तत्त्वार्थ सूत्र

(भाग-1)

ADINATH®
JAIN TRUST
(Since 1979)
CHOOLAI, CHENNAI

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थसूत्र

(विवेचन सहित)

(भाग-1)

मार्गदर्शक : डॉ. सागरमलजी जैन
प्राणी मित्र श्री कुमारपालभाई वी. शाह

संपादिका : डॉ. निर्मला जैन

* प्रकाशक *

ADINATH® JAIN TRUST
(Since 1979)
Choolai, Chennai

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थसूत्र (भाग-1)

प्रथम संस्करण : नवम्बर 2013
प्रतियाँ : 3000

प्रकाशक एवं परीक्षा फॉर्म प्राप्ति स्थल :

आदिनाथ जैन ट्रस्ट

21, वी.वी. कोईल स्ट्रीट,
चूलै, चेन्नई- 600 112.
फोन : 044-2669 1616, 4380 7077
ईमेल : trustadinath@gmail.com

मुद्रक :

नवकार प्रिंटर्स

9, ट्रिवेलियन बेसिन स्ट्रीट
साहुकारपेट, चेन्नई - 600 079.
दूरभाष : 2529 2233
मोबाईल : 9840098686

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

|| अनुक्रमणिका ||

हमारी बात vi

आदिनाथ सेवा संस्थान का संक्षिप्त परिचय vii

आशीर्वचनम् viii

सुकृत अनुमोदना ix

वन्दे वीरम् x

अनुमोदन के हस्ताक्षर xi

पूर्वकथन xii

प्रस्तावना xiv

प्रथम अध्याय

ज्ञान

प्रथम अध्याय के विषय वस्तु

* मोक्ष के साधन-रत्नत्रय 2
* सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का स्वरूप 2-3
* सम्यग् दर्शन की उत्पत्ति के प्रकार 4
* तत्त्वों के नाम 5
* निक्षेप 6
* तत्त्वों को जानने के उपाय 8
* प्रमाण और नय का अन्तर 8
* प्रमाण (सम्यग्ज्ञान) के भेद 11
* मतिज्ञान के अन्य पर्यायवाची नाम 13
* मतिज्ञान के भेद 14
* मतिज्ञान के 336 भेद 17
* श्रुतज्ञान का स्वरूप व भेद 17
* अवधिज्ञान के भेद और स्वामी 18
* मन:पर्यव ज्ञान के भेद और उनका अन्तर 20
* ऋजुमति-विपुलमति मन:पर्यवज्ञान में अन्तर 21
* अवधिज्ञान-मन:पर्यायज्ञान में अन्तर 21
* पांच ज्ञानों का विषय 22
* एक जीव को एक साथ कितने ज्ञान सम्भव 23
* मिथ्याज्ञान के भेद 24
* नयों के भेद 24

द्वितीय अध्याय

जीव विचारणा

द्वितीय अध्याय के विषय वस्तु

* जीव के असाधारण भाव 29
* औपशमिक भाव के भेद 31
* क्षायिक भाव के भेद 31
* क्षायोपशमिक भाव के भेद 32
* औदयिक भाव के भेद 32
* पारिणामिक भाव के भेद 33
* जीव का लक्षण 34
* उपयोग के भेद 34
* जीव के भेद 35
* संसारी जीवों के भेद 35
* इन्द्रियाँ की संख्या 40
* इन्द्रियों के भेद व विषय 42
* संज्ञी और असंज्ञी की विचारणा 43

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

* विग्रहगति सम्बन्धी विचारणा 44
* जन्म के प्रकार 46
* योनियों के प्रकार 47
* गर्भज जन्म 48
* उपपात जन्म वाले जीव 48
* सम्मूर्च्छन जन्म 48
* शरीर के प्रकार 49
* शरीर की विशेषताएँ 51
* एक साथ एक जीव के कितने शरीर सम्भव 52
* कार्मण शरीर की निरूपभोगिता 53
* वैक्रिय शरीर की विशेषता 54
* आहारक शरीर की विशेषता 54
* वेद के प्रकार 55
* आयु के प्रकार और उनके स्वामी 56

तृतीय अध्याय

अधोलोक और मध्यलोक

तृतीय अध्याय के विषय वस्तु

* लोक का स्वरूप 59
* नरकों के नाम 62
* नरकों का विशेष वर्णन 64
* नारकियों की संख्या
* नारकियों की लेश्या 65
* नारकियों की दुख, परिणाम, विक्रिय आदि 66
* नारकी जीवों की स्थिति, गति, आगति 68
* तिर्यक् (मध्य) लोक का वर्णन 70
* द्वीप व समुद्रों के नाम, आकार व विस्तार 70
* जम्बूद्वीप के 7 क्षेत्र 71
* जम्बूद्वीप के 6 पर्वत 71
* जम्बूद्वीप के 5 द्रह 71
* जम्बूद्वीप के 14 नदियाँ 71
* मेरू पर्वत तथा ज्योतिष देवों का वर्णन 71
* अढाई द्वीप (मनुष्य क्षेत्र) 75
* मनुष्यों के भेद 76
* ढाईद्वीप में कर्मभूमियाँ व अकर्मभूमियाँ 77
* मनुष्य एवं तिर्यंचों की आयु 77

चौथा अध्याय

देवलोक

चतुर्थ अध्ययन के विषय वस्तु

* देवों के प्रकार 81
* ज्योतिष देवों की लेश्या 81
* चार प्रकार के देवों के भेद
* देवों के भेद, संख्या और श्रेणियाँ 82
* इन्द्रों की संख्या 83
* भवनपति और व्यंतर देवों की लेश्या 85
* देवों के कामसुख 86
* चतुर्निकाय के देवों के भेद 86
* ज्योतिषी देव 88
* वैमानिक देवों का वर्णन 90

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

✲ देवों की उत्तरोत्तर अधिकता और हीनता विषयक बातें 93
✲ लोकान्तिक देवों का वर्णन 96
✲ अनुत्तर विमानों के देवों की विशेषता 98
✲ तिर्यंचों का स्वरूप 98
✲ भवनपति देवों की उत्कृष्ट आयु 98
✲ वैमानिक, नव ग्रैवेयक अनुत्तर विमानवसी देवों की उत्कृष्ट व जघन्य आयु 100
✲ नारकी , भवनपति एवं व्यंतर देवों की जघन्य स्थिति 103
✲ ज्योतिष्क देवों की स्थिति 104

पंचम अध्याय

अजीव

पंचम अध्याय के विषय वस्तु

✲ अजीवकाय के भेद 106
✲ द्रव्य का लक्षण 106
✲ द्रव्यों की विशेषता 107
✲ द्रव्यों के प्रदेश 108
✲ द्रव्यों का लोक में अवगाह 110
✲ द्रव्यों के कार्य एवं लक्षण 112
✲ धर्म-अधर्म द्रव्य का उपकार 113
✲ आकाश का उपकार 114
✲ पुद्गल का उपकार 114
✲ जीव का उपकार 116
✲ काल का उपकार 117
✲ पुद्गल का स्वरूप, गुण और पर्याय 119
✲ पुद्गल के भेद 125
✲ स्कन्धादि की उत्पत्ति के कारण 125
✲ पौद्गलिक बंध के हेतु, अपवाद आदि 128
✲ द्रव्य का लक्षण 130
✲ गुण का स्वरूप 131
✲ परिणाम का स्वरूप 131
✲ परिणाम के भेद तथा विभाग 132
✲ मूल सूत्र 133
✲ परीक्षा के नियम 137
✲ मॉडल परीक्षा पत्र 138

Jain Education International

For Personal & Private Use Only

www.jainelibrary.org

हमारी बात

दि. 5.7.1979 के मंगल दिवस पर चूलै जिनालय में भगवान आदिनाथ के प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रसंग पर स्व. **श्री अमरचंदजी कोचर** द्वारा स्थापित **श्री आदिनाथ जैन मंडल** अपनी सामाजिक गतिविधियों को आदिनाथ जैन ट्रस्ट के नाम से पिछले 31 वर्षों से प्रभु महावीर के बताये मार्ग पर निरंतर प्रभु भक्ति, जीवदया, अनुकंपा, मानवसेवा, साधर्मिक भक्ति आदि जिनशासन के सेवा कार्यों को करता आ रहा है। ट्रस्ट के कार्यों को सुचारु एवं स्थायी रुप देने के लिए सन् 2001 में चूलै मेन बाजार में (पोस्ट ऑफिस के पास) में 2800 वर्ग फुट की भूमि पर बने त्रिमंजिला भवन **'आदिनाथ जैन सेवा केन्द्र'** की स्थापना की गई। भवन के परिसर में प्रेम व करुणा के प्रतीक भगवान महावीर स्वामी की दर्शनीय मूर्ति की स्थापना करने के साथ करीब 9 लाख लोगों की विभिन्न सेवाएँ की जिसमें करीब 1 लाख लोगों को शाकाहारी बनाने का अपूर्व लाभ प्राप्त हुआ है।

आदिनाथ जैन सेवा केन्द्र में स्थाई रुप से हो रहे नि:शुल्क सेवा कार्यों की एक झलक :

- **15** विकलांग शिविरों का आयोजन करने के पश्चात अब स्थायी रुप से विकलांग कृत्रिम लिंब सहायता केन्द्र की स्थापना जिसमें प्रतिदिन आने वाले विकलांगों को नि:शुल्क कृत्रिम पैर, कृत्रिम हाथ, कैलिपरस्, क्लचेज, व्हील चैर, ट्राई - साईकिल आदि देने की व्यवस्था।
- आंखों से लाचार लोगों की अंधेरी दुनिया को फिर से जगमगाने के लिए एक स्थायी फ्री आई क्लिनिक की व्यवस्था जिसमें नि:शुल्क आंखों का चेकउप, आंखों का ऑपरेशन, नैत्रदान, चश्मों का वितरण आदि।
- करीबन 100 साधर्मिक परिवारों को प्रतिमाह नि:शुल्क अनाज वितरण एवं जरुरतमंद भाईयों के उचित व्यवसाय की व्यवस्था।
- बहनों के लिए स्थायी रुप से नि:शुल्क सिलाई एवं कसीदा ट्रेनिंग क्लासस एवं बाद में उनके उचित व्यवसाय की व्यवस्था।
- आम जनता की स्वास्थ्य सुरक्षा हेतु एक फ्री जनरल क्लिनिक जिसमें हर रोज 50 से ज्यादा मरीजों का निशुल्क चेकअप, दवाई वितरण।
- प्रतिदिन करीब 200 असहाय गरीब लोगों को निशुल्क या मात्र 3 रुपयों में शुद्ध सात्विक भोजन की व्यवस्था।
- दिमागी रुप से अस्थिर दु:खियों के लिए प्रतिदिन नि:शुल्क भोजन।
- नि:शुल्क एक्यूपंक्चर, एक्यूप्रेशर, फिसियोथेरपी एवं नेच्युरोथेरेपी क्लिनिक
- जरुरतमंद विद्यार्थियों को नि:शुल्क स्कूल फीस, पुस्तकें एवं पोशाक वितरण।
- रोज योगा एवं ध्यान शिक्षा।
- होमियोपेथिक क्लीनिक
- आपातकानीन अवसर में 6 घंटों के अंदर राहत सामग्री पहुंचाने की अद्भुत व्यवस्था।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आदिनाथ जिनशासन सेवा संस्थान में होने वाली सम्भवित योजनाओं का संक्षिप्त विवरण

हाल ही में हमारे ट्रस्ट ने चूलै के मालू भवन के पास **9000 वर्ग फुट** का विशाल भुखंड खरीदकर **'आदिनाथ जिनशासन सेवा संस्थान'** के नाम से निम्न शासन सेवा के कार्य करने का दृढ संकल्प करता है।

✲ विशाल ज्ञानशाला

- ✲ जैन धर्म के उच्च हितकारी सिद्धांतों के प्रचार - प्रसार के लिए आवासीय पाठशाला...
- ✲ जिसमें श्रद्धावान मुमुक्षु, अध्यापक, विधिकारक, मंदिर सेवक (पुजारी), संगीतकार, पर्युषण आराधक इत्यादि तैयार किए जाएंगे।
- ✲ निरंतर 24 घंटे पिपासु साधर्मिकों की ज्ञान सुधा शांत करने उपलब्ध होंगे समर्पित पंडिवर्य व अनेक गहन व गंभीर पुस्तकों से भरा पुस्तकालय।
- ✲ बालक - बालिकाओं व युवानों को प्रेरित व पुरस्कारित कर धर्म मार्ग में जोडने का हार्दिक प्रयास।

✲ साधु-साध्वीजी भगवंत वैयावच्च

- ✲ जिनशासन को समर्पित साधु-साध्वी भगवंत एवं श्रावकों के वृद्ध अवस्था या बिमारी में जीवन पर्यंत उनके सेवा भक्ति का लाभ लिया जाएगा। ✲ ऑपरेशन आदि बडी बिमारी में वैयावच्च।
- ✲ साधु-साध्वी भगवंत के उपयोग निर्दोष उपकरण भंडार की व्यवस्था। ✲ ज्ञान-ध्यान में सहयोग।

✲ वर्षीतप पारणा व आयंबिल खाता

- ✲ विश्‍व को आश्‍चर्य चकित करदे ऐसे महान तप के तपस्वीयसों के तप में सहयोगी बनने सैंकडों तपस्वियों के शाता हेतु सामूहिक वर्षीतप (बियासणा), 500 आयंबिल तप व्यवस्था व आयंबिल खाता प्रारंभ हो चुका है।

✲ धर्मशाला

- ✲ चिकित्सा, शिक्षा, सार्वजनिक कार्य एवं व्यापार आदि हेतु दूर - सुदूर देशों से पधारने वाले भाईयों के लिए उत्तम अस्थाई प्रवास व भोजन व्यवस्था।

✲ शुद्ध सात्विक जैन भोजनशाला

- ✲ किसी भी धर्म प्रेमी को प्रतिकूलता, बिमारी या अन्तराय के समय शुद्ध भोजन की चिंता न रहे इस उद्देश्य से बाहर गाँव व चेन्नई के स्वधर्मी भाईयों के लिए उत्तम, सात्विक व स्वास्थ वर्धक जिनआज्ञामय शुद्ध भोजन की व्यवस्था।

✲ साधर्मिक स्वावलम्बी

- ✲ हमारे दैनिक जीवन में काम आने वाली शुद्ध सात्विक एवं जैन विधिवत् रुप से तैयार की गई वस्तुओं की एक जगह उपलब्धि कराना, साधर्मिक परिवारों द्वारा तैयार की गई वस्तुएँ खरीदकर उन्हें स्वावलंबी बनाना

✲ जैनोलॉजी कोर्स Diploma in Jainology (3 yrs.) & Diploma in Jain Tatvagyan (1 yr)

- ✲ जैन सिद्धांतों एवं तत्वज्ञान को जन - जन तक पहुँचाने का प्रयास, दूर - सुदूर छोटे गाँवों में जहाँ गुरु भगवंत न पहुँच पाये ऐसे जैनों को पुनः धर्म से जोडने हेतु 6 - 6 महीने के Correspondence Course तैयार किया गये हैं। हर 6 महीने में परीक्षा के पूर्व शिविर द्वारा सम्यक् ज्ञान की ज्योति जगाने का कार्य शुभारंभ हो चुका है।

✲ जीवदया प्राणी प्रेम प्रकल्प योजना

- ✲ मूक जानवरों के प्रति प्रेम का भाव मात्र जिनशासन सिखलाता है। जिनशासन के मूलाधार अहिंसा एवं प्रेम को कार्यान्वित करने निर्माण होंगे 500 कबुतर घर व उनके दाना-पानी सुरक्षा आदि की व्यवस्था।

मोहन जैन
सचिव आदिनाथ जैन ट्रस्ट

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

* आशीर्वचनम् *

आचार्य विजय अजितशेखरसूरि की ओर से
डॉ. निर्मला जैन को
धर्मलाभ !!!

पूर्वधरमनीषी श्री उमास्वाति महाराज रचित श्री तत्त्वार्थ सूत्र के प्रथम पांच अध्याय का आपने जो संक्षिप्त - सरल हिन्दी भावार्थ तैयार किया है, वह तत्त्वजिज्ञासु वर्ग को जैनतत्त्व की जानकारी में विशेष उपयोगी होगा, ऐसी श्रद्धा है। आप का प्रयत्न सराहनीय है। आपकी तत्त्वरूचि की अनुमोदना। आगे का कार्य भी आप यथाशीघ्र पूर्ण करोगे ऐसी शुभेच्छा...

आपने संशोधन का अवसर दिया इसलिए धन्यवाद....

- आ. अजितशेखरसूरि का धर्मलाभ

* प्रस्तुत प्रकाशन के अर्थ सहयोगी *

साधर्मिक भाई

॥ जैनम् जयति शासनम् ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

✻ सुकृत अनुमोना ✻

श्रुतसेवी कार्यवाहक गण, **आदिनाथ जैन ट्रस्ट, चेन्नई**

योग्य धर्मलाभ

संस्था द्वारा ज्ञान पिपासुओं हेतु तत्त्वार्थ सूत्र प्रकाशित किया जा रहा है यह जानकर अतीव आनंद हुआ। पुस्तक तैयार करके प्रकाशित करने से भी ज्यादा महत्त्व का काम जो यह संस्था कर रही है, वह है भारतभर में छोटो-छोटे केन्द्रों तक अभ्यासुओं तथा जिज्ञासुओं तक यह साहित्य पहुँचाना एवं पाठ्यक्रम की तरह चला कर उसकी परीक्षा लेना एवं उत्तीर्ण पात्रों को योग्य प्रोत्साहन देना ...

तत्त्वार्थ सूत्र यह अपने आप में गागर में सागर समान है, मूल रूप से इतना छोटा होते हुए भी अर्थ की गहनता अमाप है, एक तरह से जैन विश्व कोश है, यह ग्रंथराज चारों ही सम्प्रदायों में समान रूप से मान्य होने के कारण इस ग्रंथ की महत्ता और भी बढ जाती है।

इस ग्रंथ में प्रतिपादित अणुविज्ञान के रहस्यों को देख कर आज का अणुविज्ञान भी स्तब्ध रह जाता है। ज्ञान विज्ञान का भंडार है यह सूत्र इतना ही नहीं हमारे वर्तमान जीवन के सारे दुखों का समाधान है इस सूत्रराज में प्रथम सूत्र में ही सारे निदान व समाधान समा गए है देखने की दृष्टि विकसित करनी होगी।

मैं साधुवाद देता हूँ **श्री मोहनजी** आदि सारी सन्निष्ठ टीम को, एवं **डॉ. निर्मलाजी** को उनके अनवरत प्रयत्नों के लिए प्रस्तुत प्रकाशन का मैं तहेदिल स्वागत करता हूँ और आशा करता हूँ कि आत्मार्थियों के आत्मकल्याण का यह पुष्टालंबन बनेगा पाठकगण को भी अंतर के आशीर्वाद सह ...

पंन्यास अजयसागर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

❊ वन्दे वीरम् ❊

16 सितम्बर 2013

आदरणीया, जिनशासन अनुरागिनी, अथक पुरूषार्थी,
श्रुतरसिका, विदुषी श्री निर्मलाजी

सादर धर्मलाभ

जैन धर्म में सर्वमान्य ग्रन्थ श्री 'तत्त्वार्थ सूत्र' की विवेचना के पांच अध्याय प्राप्त हुए।

मोक्ष मार्ग प्रतिपादक, जीवाजीवस्वरूप - प्रकाशक, तत्त्वज्ञानप्रदायक यह ग्रन्थ सूत्र शैली में निबद्ध है। श्री उमास्वाति जी महाराज द्वारा रचित यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। आपने परिश्रमपूर्वक अन्य टीकाओं से विवेचन - बिन्दु लेकर इस ग्रन्थ को सुज्ञजनों के लिए विशेष ज्ञानार्जन का आलम्बन बनाया है।

प्रसन्नता है, आपके इस ग्रन्थ चयन करी, अनुमोदना है - आपकी श्रुतसेवा की।

शेष यथावत्

गुरू विचक्षण चरणरज
पूज्या गुरूवर्या श्री मणिप्रभाश्रीजी म.सा.
की निश्रावर्तिनी साध्वी हेमप्रभाश्री

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुमोदन के हस्ताक्षर

कुमारपाल वी.शाह
कलिकुंड, ढोलका

जैन दर्शन धर्म समस्त विश्व का, विश्व के लिए और विश्व के स्वरुप को बताने वाला दर्शन है। जैन दर्शन एवं कला बहुत बहुत प्राचीन है। जैन धर्म श्रमण संस्कृति की अद्भूत फुलवारी है इसमें ज्ञान योग, कर्म योग, अध्यात्म और भक्ति योग के फूल महक रहे हैं।

परमात्म प्रधान, परलोक प्रधान और परोपकार प्रधान जैन धर्म में नये युग के अनुरुप, चेतना प्राप्त कराने की संपूर्ण क्षमता भरी है। क्योंकि जैन दर्शन के प्रवर्तक सर्वदर्शी, सर्वज्ञ वीतराग देवाधिदेव थे।

जैन दर्शन ने ''यथास्थिस्थितार्थ वादि च...'' संसार का वास्त्विक स्वरुप बताया है। सर्वज्ञ द्वारा प्रवर्तित होने से सिद्धांतों में संपूर्ण प्रमाणिकता, वस्तु स्वरुप का स्पष्ट निरुपण, अरिहंतो से गणधर और गणधरों से आचार्यों तक विचारो की एकरुपता पूर्वक की उपदेश परंपरा हमारी आन बान और शान है।

संपूर्ण विश्व के कल्याण हेतु बहुत व्यापक चिंतन प्रस्तुत कराने वाला जैन दर्शन सर्वकालिन तत्कालिन और वर्तमान कालिन हुई समस्याओं का समाधान करता है, इसीलिए जैन दर्शन कभी के लिए नहीं अभी सभी के लिए है।

यहाँ जैन धर्म दर्शन के व्यापक स्वरुप में से आंशीक और आवश्यक तत्वज्ञान एवं आचरण पक्ष को **डॉ. कुमारी निर्मलाबेन** ने स्पष्ट मगर सरलता से प्रस्तुत किया है। स्वाध्यायप्रिय सब के लिए अनमोल सोगात, आभूषण है। बहन **निर्मला** का यह प्रयास वंदनीय है।

ध्यान में रहे इसी पुस्तक का स्वाध्याय ज्ञान के मंदिर में प्रवेश करने का मुख्य द्वार है।

***

Jain Education International

For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

✻ पूर्व कथन ✻

जैन दर्शन के सार भूत ग्रन्थों में तत्त्वार्थसूत्र एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। यह ग्रंथ जैन धर्म की सभी परम्पराओं में मान्य है। भारतीय दर्शन में, ईस्वीसन् के प्रारम्भ में सूत्र रूप के विभिन्न दर्शनों के सूत्र ग्रंथ में निर्मित हुएए उन सूत्र ग्रंथ में जैन दर्शन से सम्बंधी सूत्रग्रंथ ये तत्त्वार्थ सूत्र ही प्रथम ग्रंथ है। यद्यपि यह ग्रंथ दस अध्यायों में विभिक्त है और जैन धर्म दर्शन के सभी पक्षों को अपने में समाहित किये हुए है। इस ग्रंथ कि विशेषता यह है कि यह ग्रंथ अति संक्षिप्त में जैन धर्म दर्शन के सभी पक्षों पर प्रकाश डालता है। भव्य आत्माएँ इस ग्रंथ का अध्ययन करके जहाँ अन्य धर्म दर्शनों का परिचय पाते है वहीं वे इसकी विविध टीकाओं के माध्यम से जैन दर्शन के अति गहराई में पहुँच पाते हैं। ज्ञातव्य है कि इस संक्षिप्त सूत्र ग्रन्थ पर विशालकाय टीका ग्रंथों का निर्माण हुआ है।

श्वेताम्बर परम्परा में इसकी प्रथम टीका तत्त्वार्थभाष्य है जो स्वयं उमास्वाति द्वारा रचित है। इसके अतिरिक्त श्वेताम्बर परम्परा में एक विशाल टीका सिद्धसेनगणि की है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ पर हरिभद्रसूरि एवं अन्य श्वेताम्बर आचार्यों की टीकाएँ भी मिलती है। दिगम्बर परम्परा में यह ग्रंथ जैन धर्म का आधार भूत ग्रंथ माना गया है। इस पर पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि नामक टीका लिखी गई थी, इसके अतिरिक्त दिगम्बर परम्परा में अकलक की राजवार्तिक और विद्यानंद की श्लोकवार्तिक टीकाऐं भी उपलब्ध है।

इस ग्रंथ के प्रथम अध्याय में जैन ज्ञान मीमांसा एवं प्रमाण मीमांसा का वर्णन है। इसका दूसरा अध्ययन जीव तत्त्व से सम्बंधित है। तीसरा एवं चौथा अध्ययन स्वर्ग और नरक की विवेचना करता है । पाँचवा अध्ययन अजीव तत्त्व एवं इसके प्रकारों एवं कार्यों से संबंधित है। यह ग्रन्थ व्यक्ति को शुभ कर्म की प्रेरणा देते है। इसके अतिरिक्त इसके अग्रीम पाँच अध्ययन मुख्यत: जैन आचार मीमांसा से संबंधित है। जिसमें आश्रव, संवर, बंध, निर्जरा एवं मोक्ष तत्त्व की चर्चा हुई।

इस ग्रन्थ में तत्त्वमीमांसा के साथ-साथ जैन आचार पर अधिक जोर दिया गया है। यद्यपि आश्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष ये सभी अवधारणाएँ, आचार से सम्बंधित है। किन्तु इसमें जैन तत्त्व मीमांसा का अच्छा परिचय मिल जाता है। तत्त्वार्थ सूत्र में जैन धर्म दर्शन के विविध आयाम उपलब्ध होते है उनमें जैन ज्ञान एवं प्रमाण मीमांसा और जैन आचार मीमांसा प्रमुख है।

तत्त्वार्थ सूत्र की एक विशेषता यह है कि इसमें जैन धर्म दर्शन के प्राचीनतम रूप में अनेक संकेत उपलब्ध है। और परवर्ति काल में विकसित सूत्रों से उनका प्राथक्रिय भी सम्यग्र प्रकार से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समझा जा सकता है। प्रारम्भिक काल का ग्रन्थ होने के कारण जैन दर्शन के अनेक सिद्धांत जैसे प्रमाण मीमांसा, गुणस्थानक सिद्धांत इसमें अनुपस्थित है। साथ ही जैन धर्म दर्शन के भी प्रथम द्वितीय शताब्दी में जो सिद्धांत उपस्थित रहे है उन्हीं पर इस ग्रंथ के सूत्रों की रचना की गई है।

वर्तमान में इस ग्रंथ के दो पाठ उपलब्ध होते है। श्वेताम्बर परम्परा में इसका भाष्यमान पाठ स्वीकृत रहा है। जबकि दिगम्बर परम्परा इसके सवार्थसिद्धि मान्य पाठ को ही मुख्यता देता है। यद्यपि इन पाठों में मुख्य अंतर नहीं है। इसका प्रथम भाष्यमान पाठ अपेक्षाकृत प्राचीन है। इसको देखकर ऐसा लगता है कि यह जैन धर्म दर्शन प्राथमिक व सर्व प्रचलित ग्रंथ रहा है।

कालक्रम की अपेक्षा से यह ग्रंथ ईसा की प्रथम शताब्दी से चौथी शताब्दी के मध्य में लिखा गया है। जैन धर्म दर्शन के प्राचीनतम स्वरूप को जानने में यह ग्रन्थ विशेष रूप से सहायक है। इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि यह विविध दर्शनों के मतों को समन्वय करके चलता है। अत: आज भी जैन दर्शन के अध्ययन के लिए इसका अध्ययन अपरिहार्य माना जा सकता है।

यही कारण है कि हमने **आदिनाथ जैन ट्रस्ट** के माध्यम से चल रही जैन विद्या सम्बंधी परिक्षाओं में इसे महत्वपूर्ण स्थान देने का प्रयास किया है। यद्यपि यह मूलग्रंथ संस्कृत भाषा में रचित प्रथम ग्रंथ है। फिर भी वर्तमान काल में जैन धर्म दर्शन सिद्धांतों को समझने के लिए अति सहायक है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए इसके हिन्दी में भी अनुवाद हुए है और इसलिए में आपकी प्रशंसा करता हूँ। मेरी अपेक्षा यही है कि जैनधर्मदर्शन को समझने के इच्छुक व्यक्ति इस ग्रंथ से नानाविध प्रेरणा लेकर जैन धर्म दर्शन के सम्बन्ध में अपने ज्ञान का विकास करें।

इसी अपेक्षा के साथ

डॉ. सागरमल जैन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

❊ प्रस्तावना ❊

जैन दर्शन का प्रामाणिक अध्ययन करने के इच्छुक जैन-जैनेतर विद्यार्थी एवं शिक्षक यह पूछते है कि जैसे वेदों में गीता, ईसाइयों में बाइबिल, मुसलमानों में कुरान है वैसे जैनों में आगम के पश्चात् ऐसी कौन-सी पुस्तक है जिसका संक्षिप्त तथा विस्तृत अध्ययन किया जा सके। इस प्रश्न के उत्तर में, तत्त्वार्थ सूत्र के सिवाय, मेरे ध्यान में कोई अन्य ग्रन्थ का नाम नहीं आया।

क्योंकि आगम के विषय बहुत ही विस्तृत है, गहन गम्भीर रहस्यों से भरे पड़े है। जन साधारण तो क्या, बड़े बड़े मनीषियों के लिए भी उनको हृदयगम कर लेना बहुत ही कठिन है। दूसरी बात, आगम तीर्थंकर परमात्मा की वाणी है। उनमें एक विषय नहीं है, अनेकानेक विषय अलग-अलग आगमों में है। इससे एक सम्पूर्ण विषय को क्रमबद्ध पढ़ने में अनेक आगम पढ़ने पड़ते हैं। किन्तु वाचक उमास्वाति द्वारा रचित तत्त्वार्थसूत्र में तत्त्व की बहुत सी बातें क्रमबद्ध सूत्र रूप में एक जगह संक्षिप्त शैली में संग्रहीत कर दी गई है। अतः इसका अध्ययन भी सरलता से हो सकता है और जल्दी समझ में आ जाता है। जन साधारण और विद्वान मनीषी सभी इससे लाभान्वित हो सकते हैं।

ग्रन्थ परिचय : तत्त्वार्थ सूत्र जैन तत्त्वज्ञान का विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण संग्राहक सूत्र (ग्रन्थ) है। यह संस्कृत भाषा का सर्वप्रथम जैन ग्रन्थ है।

इसका पूरा नाम तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र है अर्थात् तत्त्वों का ज्ञान कराने वाला सूत्र है।

यह समग्र जैन दर्शन का प्रतिनिधित्व करता है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में इसे प्रामाणिक रूप प्राप्त है।

इसमें सम्यग्दर्शन - ज्ञान- चारित्र- रत्नत्रयी का युक्ति पूर्ण निरूपण, छह द्रव्य एवं पांच अस्तिकायों का विवेचन, भूगोल, खगोल सम्बन्धी जैन मान्यताएँ, ज्ञान और ज्ञेय की समुचित व्यवस्था तथा नव तत्वों का संपूर्ण विवेचन हुआ है।

प्रस्तुत सूत्र दस अध्यायों में विभक्त है जिसमें कुल 344 सूत्र है। प्रस्तुत कृति में दस अध्यायों में से प्रथम पांच अध्यायों का विस्तृत विवेचन किया गया है। शेष पाँच अध्यायों का विवेचन अगले कृतिका में किया जायेगा।

लगभग भारत वर्ष के जैन परीक्षा बोर्डो के पाठ्यक्रम में और जैन विश्व विद्यालयों में यह सूत्र निर्धारित है।

तत्त्वार्थ सूत्र की रचना का उद्देश्य : वीर-निर्वाण की आठवीं, नवीं शताब्दी में देश में गुप्तकालीन सम्राटों के उत्कर्ष के कारण संस्कृत भाषा का प्रभाव बढ़ रहा था। गुप्तकालीन सम्राट संस्कृत प्रेमी थे। राज सभा में संस्कृत के विद्वानों का विशेष आदर-सत्कार था। फलस्वरूप जनता के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हृदय में भी संस्कृत के प्रति विशेष आदर था।

उस समय कणाद का वैशेषिक सूत्र, बादरायण का ब्रह्मसूत्र, पंतजलि का योग सूत्र आदि कई ग्रन्थ अपने-अपने दर्शन के मूल सिद्धांत संस्कृत भाषा में, सूत्र शैली में रचे जा चुके थे। ऐसी परिस्थितियों में जैन वाड्मय में भी ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी जो संस्कृत भाषा में हो और सम्पूर्ण जैन सम्प्रदायों द्वारा मान्य हो।

वाचक उमास्वाति ने प्राकृत के साथ साथ संस्कृत भाषा का भी गहरा अध्ययन किया था। उन्होंने आगम ग्रन्थों के आधार पर तत्व एवं आचार सम्बन्धित विषयों का संस्कृत भाषा में सूत्ररूप में तत्त्वार्थ सूत्र की रचना की।

विषय वर्णन : कोई भी भारतीय शास्त्रकार जब स्वीकृत विषय पर शास्त्र रचना करता है तब वह अपने विषय निरूपण के अंतिम उद्देश्य के रूप में मोक्ष को ही रखता है, फिर भले ही वह विषय अर्थ, काम, ज्योतिष या वैद्यक जैसा भौतिक हो अथवा तत्त्वज्ञान और योग जैसा आध्यात्मिक। सभी मुख्य-मुख्य विषयों के शास्त्रों के प्रारंभ में उस उस विद्या के अंतिम फल के रूप में मोक्ष का ही निर्देश हुआ और उपसंहार में भी उस विद्या से मोक्ष सिद्धि का कथन किया गया है। वाचक उमास्वाति ने भी अंतिम उद्देश्य मोक्ष रखकर ही, उसकी प्राप्ति का उपाय सिद्ध करने के लिए, निश्चित किये हुए सभी तथ्यों का वर्णन अपने तत्त्वार्थ सूत्र में किया है।

विषय का विभाजन : तत्त्वार्थ सूत्र के वर्ण्य विषय को वाचक उमास्वाति ने दस अध्यायों में इस प्रकार से विभाजित किया है -

पहले अध्याय में ज्ञान मीमांसा का विवेचन,

दूसरे से पांचवें तक ज्ञेय मीमांसा का विवेचन,

छठ से दसवें तक चारित्र मीमांसा का विवेचन है।

ज्ञान मीमांसा के सारभूत तथ्य : प्रथम अध्याय में मोक्षमार्ग एवं ज्ञान का स्वरूप का विवेचन करते हुए - नय और प्रमाण रूप से ज्ञान का विभाजन, मति आदि आगम प्रसिद्ध पांच ज्ञान और उनका प्रत्यक्ष-परोक्ष दो प्रमाणों के द्वारा संपूर्ण ज्ञान मीमांसा का विवेचन हुआ है।

ज्ञेयमीमांसा के सारभूत तथ्य : ज्ञेय मीमांसा में जगत् के मूलभूत जीव और अजीव इन दो तत्त्वों का वर्णन है। जिनमें से मात्र जीव तत्त्व की चर्चा दो से चार तक इन तीन अध्यायों में है।

दूसरे अध्याय में जीव के भाव (परिणाम), भेद, प्रभेद, इन्द्रिय, योनि, शरीर, जाति, मृत्यु और जन्म के बीच की स्थिति, जीव की टूटने और न टूटने वाली आयु आदि का वर्णन है।

तीसरे अध्याय में अधोलोक वासी नारकी जीव और उनकी वेदना तथा आयु मर्यादा आदि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा द्वीप, समुद्र, पर्वत, क्षेत्र आदि द्वारा मध्यलोक का भौगोलिक वर्णन और उसमें रहनेवाले मनुष्य तथा तिर्यंच जीवों की आयु आदि का विवेचन प्राप्त होता है।

चौथे अध्याय में देवगति तथा ऊर्ध्वलोक का वर्णन है जिसमें देवों की विविध जातियाँ, उनके परिवार, भोग-स्थान, समृद्धि, जीवनकाल और ज्योर्तिमण्डल अर्थात् खगोल का वर्णन है।

पाँचवें अध्याय में अजीवतत्त्व के धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल द्रव्यों के भेद, स्थितिक्षेत्र, प्रत्येक के कार्य, पुद्गल का स्वरूप उसके भेद और उत्पत्ति के कारण, पौद्गलिक बन्ध की योग्यता और अयोग्यता, द्रव्य का सामान्य लक्षण, काल को द्रव्य माननेवाला मतान्तर और उनकी दृष्टि से काल का स्वरूप, गुण और परिणाम के लक्षण, परिणाम के भेद आदि का विवेचन है।

इस प्रकार तीसरे-चौथे-पाँचवें अध्याय में सम्पूर्ण लोक विचारणा प्राप्त होती है।

छठे से दसवें अध्याय तक चारित्र मीमांसा है।

चारित्र मीमांसा के सार भूत तथ्य : जीवन की हेय प्रवृत्तियों, उनके हेतु, मूल बीज, परिणाम आदि का विचार के साथ ही उन हेय प्रवृत्तियों के त्याग, त्याग के उपाय, उपादेय प्रवृत्तियों के ग्रहण और इनसे होने वाले परिणाम, विचारणीय विषय है।

छठे अध्याय में आश्रव का स्वरूप, उसके भेद तथा आश्रव सेवन से कौन-कौन से कर्म बंधते, इसका वर्णन है।

सातवें अध्याय में - श्रावक के बारह व्रतों का अतिचार सहित वर्णन है। साथ ही व्रतों की स्थिरता हेतु 25 भावनाएँ तथा दान का स्वरूप भी बताया गया है।

आठवें अध्याय में - आठ कर्म प्रकृतियाँ तथा कर्मबंध के मूल हेतु का वर्णन है।

नवें अध्याय में संवर और निर्जरा तत्त्व वर्णित है। संवर-निर्जरा के लक्षण, उपाय, भेद-प्रभेद आदि का विवेचन है।

दसवें अध्याय में केवलज्ञान के हेतु और मोक्ष का स्वरूप तथा मुक्ति प्राप्त करनेवाली आत्मा को किस रीति से कहाँ गति होती है, इसका वर्णन है।

इस प्रकार सम्पूर्ण तत्त्वार्थसूत्र में रत्नत्रयी रूप मोक्षमार्ग तथा जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष इन सात तत्त्वों का संपूर्ण विवेचन हुआ है।

जब मैंने अपने स्वाध्याय के अन्तर्गत इस विशिष्ट ग्रंथ गुरू के द्वारा का परायण किया तो इस ग्रंथ के प्रति मेरे हृदय में एक अनूठी श्रद्धा का जन्म हुआ। मुझे लगा, अगर, इस ग्रंथ को सरल, सहज भाषा में चित्र, चार्ट एवं तालिकाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया जाये तो तत्त्व जिज्ञासु इसके माध्यम से अवश्य ही तत्त्व के प्रति और अधिक श्रद्धान्वित हो सकेंगे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत कृति को तैयार करने के लिए जिन ग्रन्थों का आधार लिया है उनमें विभिन्न विद्वान मनीषियों की तत्त्वार्थ सूत्र की हिन्दी टिकाएँ, सवार्थसिद्धि, राजवार्तिक, नवतत्त्व, लघु संग्रहणी आदि प्रमुख ग्रंथ है। उन सब को मैं हृदय से आभार प्रकट करती हूँ।

इस पुस्तक के वर्णित विषयों की शास्त्रानुसारिता को प्रामाणिक करने के लिए प.पू. आचार्य प्रवर **श्री अजितशेखर सूरीश्वरजी म.सा.** प.पू. पंन्यास प्रवर **श्री अजयसागरजी म.सा.**, प.पूज्या **साध्वीवर्या हेमप्रज्ञाश्रीजी म.सा.** ने निरक्षण किया है। सभी ने समय की अल्पता और अत्यंत व्यस्तता में भी मेरे निवेदन को सहर्ष स्वीकार कर इस कृति को अपने कुशल संपादन से सवारा है। उन सबके प्रति कृतज्ञता का भाव व्यक्त करती हूँ।

डॉ. सागरमलजी जैन एवं प्राणी मित्र **श्री कुमारपाल भाई वी. शाह** ने पथ-पथ पर इस कार्य को अभिवृद्ध करने के लिए नानाविध सुझाव प्रदान किये, अतएव मैं आपश्री का अन्तःमन से आभार प्रकट करती हूँ ।

आत्मीय बहन **डॉ. मीना साकरिया** एवं **मोहन जैन** का पुस्तक की प्रुफरिडिंग के कार्य में सुन्दर, सुरूचिपूर्ण योगदान रहा है ।

आशा है आप हमारे इस प्रयास को आंतरिक उल्लास, ऊर्जा एवं उमंग से बधाएँगे और प्रेम, प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से अपने भीतर के आत्म विश्वास को बढायेंगे।

अंत में इस नम्र प्रयास के दौरान कोई भी जिनांज्ञा विरूद्ध कथन हुआ हो तो मिच्छामि दुक्कडं।

डॉ. निर्मला जैन
चेन्नई

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम अध्याय

* ज्ञान *

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम अध्याय
ज्ञान

सम्यग्दर्शन - ज्ञान - चारित्राणि मोक्षमार्गः ।।1।।

सूत्रार्थ - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र - ये तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग हैं।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में मोक्ष-प्राप्ति का जो मार्ग बताया गया वह मार्ग हैं - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। ये तीनों सम्मिलित रूप से मिलकर मोक्ष प्राप्ति का मार्ग बनते हैं। इन तीनों में से अलग-अलग कोई भी एक अथवा दो मोक्ष की प्राप्ति नहीं करा सकते।

मोक्ष का स्वरूप - बन्ध एवं बन्ध के कारणों के अभाव से होनेवाला परिपूर्ण आत्मिक विकास मोक्ष है।

सम्यग्दर्शन - सम्यग्दर्शन में दो शब्द हैं - सम्यक् और दर्शन। सम्यक् शब्द सत्यता, यथार्थता और मोक्षाभिमुखता के लिए प्रयुक्त हुआ है। दर्शन का अर्थ दृष्टि, देखना, जानना, मान्यता, विश्वास, श्रद्धा करना आदि है। जो वस्तु जैसी है, जिस रूप में अवस्थित है, स्वयं के पूर्वाग्रह त्याग कर, तटस्थता पूर्वक उसको वैसी ही मानकर यथार्थ श्रद्धा विश्वास धारण करना, वह यथार्थ श्रद्धा जो सत्य-तथ्य पूर्ण होने के साथ-साथ मोक्षाभिमुख हो, जिससे ज्ञेयमात्र को तात्विक रूप में जानने की, हेय (छोडने योग्य) एवं उपादेय (ग्रहण करने योग्य) तत्त्व के यथार्थ विवेक युक्त अभिरूचि हो वह सम्यग्दर्शन है।

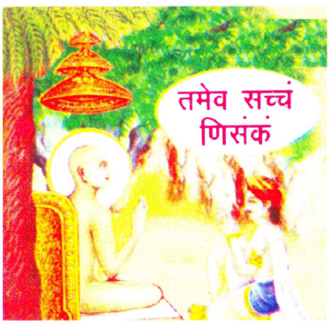

व्यावहारिक दृष्टि से ''**तमेव सच्चं निसंकं जं जिणेहिं पवेइयं**

वहीं निःशंक सत्य है जो सर्वज्ञ जिनेश्वरों ने बताया है ऐसी श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है। देव, गुरू, धर्म इन तीनों के प्रति यथार्थ श्रद्धा करना अर्थात् अरिहंत ही मेरे देव हैं, शुद्ध आचार का पालन करने वाले सुसाधु ही मेरे गुरू हैं और जिनेन्द्र देव द्वारा प्ररूपित धर्म ही प्रमाण है इस प्रकार के शुभ भाव को सम्यग्दर्शन कहा है।

आध्यात्मिक अथवा निश्चय दृष्टि से पर पदार्थों से विमुखता व आत्मा की रूचि, आत्म स्वरूप की अनुभूति, प्रतीति यथार्थ विश्वास और उसका दृढ़ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्ज्ञान - प्रमाण और नयों के द्वारा जीवादि तत्त्वों का संशय, विभ्रम और विपर्यय से रहित वस्तु तत्त्व का यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान कहलाता है। आत्मा को जानना, आत्मा के विशुद्ध स्वरूप का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

सामान्य रूप से एक ही पदार्थ के लिए अनेक वस्तुओं में धुमता

हुआ अनिश्चित ज्ञान संशय है। जैसे कि वह धूल है या धुँआ ?

जिसमें कोई निश्चय न हो सके, ''कुछ तो है'' इतना ही बोध हो, वह विभ्रम है। जैसे पाँव में किसी चीज की चुभन सा महसूस हो किन्तु यह निश्चय न हो सके कि वह नुकीला कंकर था, काँच का टुकडा था, अथवा किसी कांटे की नोंक थी।

अंधेरे में रस्सी को साँप और साँप को रस्सी समझ लेना विपर्यय अर्थात् विपरीत ज्ञान है।

सामान्यत : सम्यग्ज्ञान ही सम्यग्दर्शन व सम्यकचारित्र की प्राप्ति, स्थिरता व विशुद्धि का कारण बनता है। जबकि मिथ्याज्ञान जीव को सम्यग्दर्शन व सम्यक् चारित्र से विमुख रखता है, अतः जीवन में कैसा ज्ञान लेना व किसके पास प्राप्त करना यह विवेक भी बड़ा आवश्यक बन जाता है।

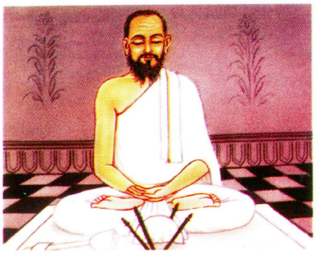

सम्यक्चारित्र - सम्यग्ज्ञान पूर्वक कषाय, अविरति आदि भाव से निवृत होकर आत्मस्वरूप में लीन होना सम्यक्चारित्र है।

आत्मा के अस्तित्व पर सही प्रतीति हो जाने पर और आत्मा के स्वरूप का सही-सही ज्ञान हो जाने पर भी जब तक उस प्रतीति और ज्ञान के अनुसार आचरण नहीं किया जायेगा, तब तक साधक की साधना परिपूर्ण नहीं हो सकेगी। हमने विश्वास कर लिया कि आत्मा है और यह भी जान लिया कि आत्मा पुद्गल से भिन्न है, परन्तु जब तक उसे पुद्गल से अलग करने का प्रयत्न नहीं किया जायेगा तब तक अभीष्ट सिद्धि नहीं हो सकती। सम्यग्दर्शन होने का फल यह है कि आत्मा का अज्ञान, ज्ञान में परिणत हो गया। इसी तरह सम्यग्ज्ञान का फल यह है कि आत्मा अपने विभाव को छोडकर स्वभाव में पूर्ण स्थिर होवे। विभाव मोह जनित विकल्प एवं विकारों को छोडकर स्व-स्वरूप रमण की परिपूर्णता में लीन हो जाना सम्यक्चारित्र है। यही विशुद्ध संयम है, सर्वोत्कृष्ट शील है। हिंसा वैगरह में निवृत्ति और ज्ञानाचार आदि में प्रवृति व्यवहार चारित्र है।

मोक्ष के साधन

	सम्यग्दर्शन	**सम्यग्ज्ञान**	**सम्यक्चारित्र**
व्यवहारिक	तत्त्वों का सही श्रद्धान	तत्त्वों का सही ज्ञान	अशुभ से निवृत्ति शुभ में प्रवृत्ति
आध्यात्मिक	आत्मा की श्रद्धा	आत्मा का ज्ञान	आत्मा में स्थिरता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।।2।।

सूत्रार्थ - तत्त्व (वस्तु स्वरूप) का अर्थ सहित यह ऐसा ही है ऐसे निश्चय पूर्वक श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

विवेचन - यहाँ तत्त्व और अर्थ इन दोनों शब्दों के संयोग से तत्त्वार्थ शब्द बना है। तत्त्व शब्द में तत् पद है तथा त्व प्रत्यय है। तत् + त्व = तत्त्व। तत् का अर्थ है जिस पदार्थ का जो भाव हो तथा 'त्व' का अर्थ हैं 'पना' अर्थात् जिस पदार्थ का जो भाव हो, उस पदार्थ का उस भाव रूप होना 'तत्त्व' है। तत्त्व से जिसका निश्चय किया जाता है वह अर्थ है। इस तरह तत्त्व रूप अर्थ को तत्त्वार्थ कहते हैं। आशय यह है कि पदार्थो का उनके अपने-अपने स्वरूप के अनुसार जो (निश्चय पूर्वक) श्रद्धान दृढ़ विश्वास होता है वह सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के प्रकार

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ।।3।।

सूत्रार्थ - सम्यग्दर्शन निसर्ग या अधिगम दो में से किसी एक प्रकार से उत्पन्न होता है।

विवेचन - निसर्ग का अर्थ है स्वभाव या परिणाम मात्र। जो सम्यग्दर्शन उपदेश आदि बाह्य निमित्तो से रहित मात्र जीव के स्वयं के स्वभाव (आन्तरिक भाव) के कारण से उत्पन्न होता है वह निसर्ग सम्यग्दर्शन कहलाता है।

अधिगम का अर्थ है परोपदेश आदि बाह्य निमित्त। जिस सम्यग्दर्शन में किसी बाह्य निमित्त अर्थात् अरिहंत परमात्मा की प्रतिमा, गुरू का उपदेश, शास्त्र-स्वाध्याय, सत्संग आदि की अपेक्षा रहती है। जो किसी दूसरे का निमित्त पाकर उत्पन्न होता है, वह अधिगम सम्यग्दर्शन है।

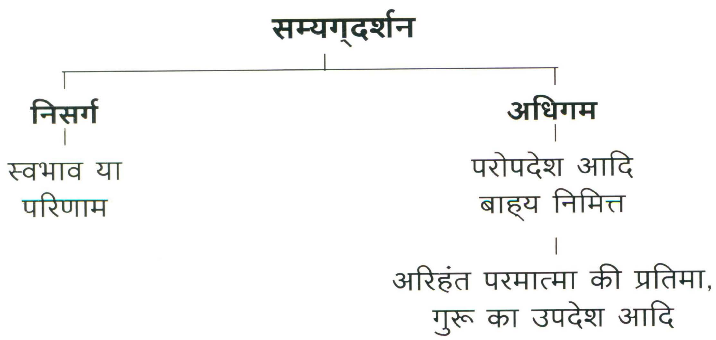

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वों के नाम

जीवाजीवास्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम् ||4||

सूत्रार्थ - जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष - ये सात तत्त्व हैं।

विवेचन - आगम ग्रन्थों में पुण्य और पाप मिलाकर नौ तत्त्व कहे गये है परन्तु यहाँ पुण्य और पाप दोनों का आस्रव या बंध तत्त्व में समावेश करके सात बताये गये हैं। क्योंकि जीव की शुभाशुभ प्रवृत्ति के आधार से बंधनेवाले कर्मों में अनुभाग के अनुसार पुण्य-पाप का विभाग होता है।

जीव - जो जीता है, जो प्राणों को धारण करता है, जिसमें चेतना है, जो सुख-दुख की अनुभूति करता हैं वह जीव है।

अजीव - जिस द्रव्य पदार्थ में चेतनादि का अभाव हो वह अजीव है।

आस्रव - शुभ और अशुभ रूप कर्मों का आना आस्रव है।

बंध - आत्मा और कर्म प्रदेशों का परस्पर दूध और पानी की तरह मिलना वह बंध है।

संवर - आते हुए कर्मो को रोकना संवर है।

निर्जरा - कर्मो का एक देश या आंशिक रूप क्षय होना निर्जरा है।

मोक्ष - सभी कर्मो का आत्मा से सर्वथा अलग हो जाना मोक्ष है।

इन सात तत्त्वों का ही इस ग्रन्थ में विवेचन हुआ है।

सात तत्त्वों में सर्व प्रथम जीव को ही क्यों स्थान दिया गया है? उत्तर है कि उक्त तत्त्वों का ज्ञाता, पुद्‌गलों का उपभोक्ता , शुभ और अशुभ कर्म का कर्त्ता तथा संसार और मोक्ष के लिए योग्य प्रवृति का विधाता जीव ही है। इसलिए जीव को प्रथम स्थान दिया गया है। जीव की गति में, अवस्थिति में, अवगाहना में और उपभोग आदि में उपकारक अजीव तत्त्व है, अत: जीव के बाद अजीव का उल्लेख है। जीव और पुद्‌गल का संयोग ही संसार है। उस संसार के मुख्य कारण आस्रव और बंध है। अत: अजीव के पश्चात् आस्रव और बंध को स्थान दिया हैं। जीव और पुद्‌गल का वियोग मोक्ष है। संवर और निर्जरा उस मोक्ष का कारण है। कर्म की पूर्ण निर्जरा होने पर मोक्ष होता है अत: संवर, निर्जरा और मोक्ष यह क्रम रखा गया हैं।

सात तत्त्व

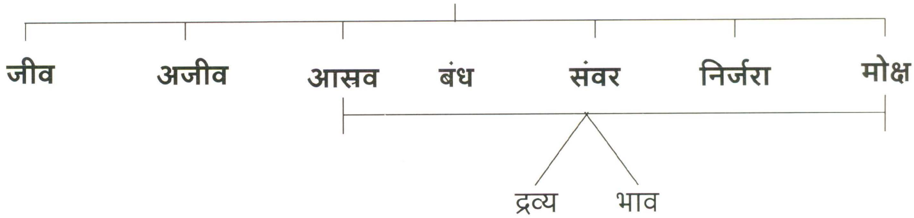

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य से

कर्मों का	आना	-	आस्रव
	आत्मा से परस्पर मिलना	-	बंध
	आना रूकना	-	संवर
	एक देश क्षय होना	-	निर्जरा
	सर्वथा आत्मा से अलग होना	-	मोक्ष

भाव से

आत्मा का	हिंसा आदि परिणाम	-	आस्रव
	मिथ्यात्व आसक्ति परिणाम	-	बंध
	सम्यक्त्व चारित्र परिणाम	-	संवर
	धर्म ध्यानादि परिणाम	-	निर्जरा

शुद्ध भावों की	उत्पत्ति	-	संवर
	वृद्धि	-	निर्जरा
	पूर्णता	-	मोक्ष

निक्षेप

नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्तन्न्यासः ।।5।।

सूत्रार्थ - नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के द्वारा जीवादि तत्त्वों का न्यास (निक्षेप/लोक व्यवहार) होता है।

विवेचन - नि उपसर्ग पूर्वक क्षिप् धातु से निक्षेप शब्द बना है। निक्षेप में नि का अर्थ हैं नियत और निश्चित । क्षेप का अर्थ है रखना या स्थापना करना। आशय यह है कि एक ही शब्द को प्रयोजन और प्रसंग के अनुसार अनेक अर्थो में प्रयोग किया जाता है। यह प्रयोग कहाँ किस अर्थ में किया गया है इस बात को बतलाना ही निक्षेप विधि का काम है। अतः शब्द के अर्थ का निश्चय करने को निक्षेप कहते हैं। प्रत्येक शब्द के कम से कम चार अर्थ मिलते हैं। ये चारों ही उस शब्द के अर्थ- सामान्य के चार विभाग हैं, जिन्हें निक्षेप या न्यास कहते है इन्हें जान लेने पर ही वक्ता का सही आशय समझा जा सकता है। ये चार निक्षेप इस प्रकार हैं - 1. नाम 2. स्थापना 3. द्रव्य और 4. भाव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

1. नाम निक्षेप - किसी पदार्थ या व्यक्ति का गुण आदि पर विचार किये बिना लोक व्यवहार चलाने के लिए स्वेच्छा से नाम रख देना नाम निक्षेप है। इस नामकरण की प्रक्रिया में न तो नाम के अनुरूप गुणों का विचार किया जाता है और न ही उसके लोक प्रचलित अर्थ का। यह तो केवल किसी व्यक्ति, वस्तु, स्थान, काल, घटना आदि की पहचान के लिए रखा जाता है। जैसे किसी का नाम महावीर रख देना किन्तु उसमें महावीर के गुण नहीं है। वह तो कायर और निर्बल है। यह नाम को लोक व्यवहार में उसे जानने के लिए सकेंतात्मक है।

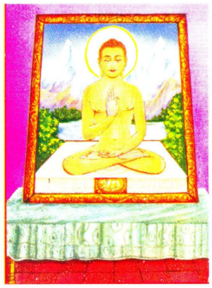

2. स्थापना निक्षेप - जिस निक्षेप में किसी व्यक्ति या वस्तु की प्रतिकृति, चित्र या मूर्ति में उस मूलभूत वस्तु का आरोपण कर उसे उस नाम से अभिहित करना स्थापना निक्षेप है। जैसे भगवान महावीरस्वामी की प्रतिमा को महावीर स्वामी कहना, गाय की आकृति के खिलौने को गाय कहना, या नाटक में राम, रावण आदि के अभिनय करने वाले पात्रों को राम आदि कहना। स्थापना निक्षेप के दो भेद है -

a) तदाकार स्थापना और b) अतदाकार स्थापना । इन्हें सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना भी कहते हैं।

a) तदाकार स्थापना - मूल वस्तु की आकृति जैसी है, वैसी ही आकृति वाली वस्तु में उस मूल वस्तु का आरोपण करना, तदाकार स्थापना है। जैसे अपने गुरू के चित्र को गुरू मानना।

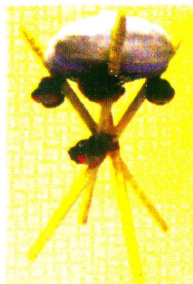

b) अतदाकार स्थापना - जो वस्तु अपनी मूल वस्तु की प्रतिकृति तो नहीं है, फिर भी उसमें मूल वस्तु का आरोपण करना अतदाकार स्थापना है। जैसे - स्थापनाचार्य आदि में अपने गुरू का आरोपण करना या शतरंज की मोहरों को हाथी, घोडा, राजा आदि कहना।

श्रोता को चाहिए कि वह न तो स्थापना को मूल वस्तु मानने की भूल करे और न स्थापना निक्षेप का सर्वथा निषेध करे। सही श्रोता मूल वस्तु को समझने के लिए स्थापना निक्षेप को साधन के रूप में प्रयोग करे।

3. द्रव्य निक्षेप - वस्तु की भूतकालिन अथवा भविष्यकालीन अवस्था को वर्तमान में भी उसी नाम से पहचानना द्रव्य निक्षेप है। जैसे - पहले कभी राजा या मंत्री रहे हुए व्यक्ति को वर्तमान में राजा या मंत्री कहना। यह भूतकालीन पर्याय की दृष्टि से कहा जा सकता है। राजकुमार वर्द्धमान को भगवान महावीर कहना या युवराज को राजा शब्द से सम्बोधित करना, यह भावी पर्याय की दृष्टि ।

Jain Education International
For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

4. भाव निक्षेप - सम्पूर्ण गुण युक्त पदार्थ या व्यक्ति को उस रूप में मानना अर्थात् जिस स्थिति में वस्तु वर्तमान में विद्यमान है, उसे वैसा ही कहना भाव निक्षेप कहलाता है। यह वर्तमान पर्याय को तथा गुण सम्पन्न को महत्व देता है। अतीत और अनागत पर्याय को स्वीकार नहीं करता है। जैसे अनंत चतुष्टय युक्त अंतिम तीर्थंकर को भगवान महावीर कहना अथवा वर्तमान में सिंहासनारूढ होकर राज्य का संचालन कर रहा हो, वही भाव निक्षेप से राजा है।

निक्षेप

(शब्द के अर्थ का निश्चय करना)

	नाम	**स्थापना**	**द्रव्य**	**भाव**
स्वरूप	व्यक्ति का गुण आदि पर विचार किये बिना नाम रखना	व्यक्ति या वस्तु की चित्र या मूर्ति में उस मूलभूत वस्तु का आरोपण करना	भूत या भविष्यकालीन अवस्था को वर्तमान में भी उसी नाम से पहचानना।	सम्पूर्ण गुण युक्त पदार्थ को उस रूप में मानना
उदाहरण	वीरता न होने पर भी महावीर नाम रखना।	भगवान महावीर स्वामी की प्रतिमा को महावीर स्वामी कहना।	राजकुमार वर्द्धमान को भगवान महावीर कहना।	अनंत चतुष्टय युक्त महावीर को भगवान महावीर कहना।

तत्त्वों को जानने के उपाय

प्रमाणनयैरधिगमः ।।6।।

सूत्रार्थ - प्रमाण और नय से पदार्थो का ज्ञान होता है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में तत्त्वादि को जानने के दो साधन बताये गये हैं - प्रमाण और नय।

प्रमाण और नय का अन्तर - प्रमाण और नय से तत्त्वों का बोध होता है। दोनों ही ज्ञान है, परन्तु दोनों में अन्तर यह है कि प्रमाण के द्वारा पदार्थ को समग्र रूप से एक साथ जाना जाता है जबकि नय पदार्थ में विद्यमान गुणों में से एक समय में एक ही गुण अंश को जानने की पद्धति है। प्रमाण वस्तु के पूर्णरूप को ग्रहण करता है और नय, प्रमाण द्वारा ग्रहीत वस्तु के एक अंश को जानता है। अतः किसी एक धर्म के द्वारा वस्तु का निश्चय करना जैसे नित्यत्व धर्म द्वारा 'आत्मा नित्य है' ऐसा निश्चय करना नय है। अनेक धर्मों द्वारा वस्तु का अनेक रूप से निश्चय करना। जैसे नित्यत्व, अनित्यत्व आदि धर्मो द्वारा आत्मा नित्यानित्य आदि अनेक रूप हैं ऐसा निश्चय करना प्रमाण है। दूसरे शब्दों में नय प्रमाण का एक अंश मात्र है और प्रमाण अनेक नयों का समूह है।

Jain Education International

For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

निर्देशस्वामित्व साधनाधिकरण - स्थिति - विधानतः ||7||

सूत्रार्थ - निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान से सम्यग्दर्शन आदि विषयों का ज्ञान होता है।

विवेचन - व्यक्ति जब कोई भी नई वस्तु पहले-पहल देखता या उसका नाम सुनता है, तब वह उस वस्तु के संबंध में अनेक प्रश्न करने लगता है। वह उस वस्तु के स्वभाव, रूप-रंग, उसके मालिक बनाने की पद्धति, टिकाऊपन, नानाविध प्रश्न करके अपने ज्ञान की वृद्धि करता है। इसी तरह अन्तर्दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति भी मोक्षमार्ग या हेय-उपादेय आध्यात्मिक तत्त्व को सुनकर तत्सम्बन्धी विविध प्रश्नों के द्वारा अपना ज्ञान बढ़ाता है। यही आशय प्रस्तुत सूत्र में प्रकट किया गया है।

1. **निर्देश -** किसी वस्तु के स्वरूप का कथन करना निर्देश है। सम्यग्दर्शन क्या है? यह प्रश्न हुआ, इस पर जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, ऐसा कथन करना निर्देश है या नामादिक निक्षेप के द्वारा सम्यग्दर्शन का कथन करना निर्देश है।

2. **स्वामित्व -** स्वामित्व अर्थात् अधिकारी। सम्यग्दर्शन पर जीव का अधिकार है अजीव का नहीं, क्योंकि वह जीव के ही गुण की पर्याय है।

3. **साधन -** वस्तु (सम्यग्दर्शन) की उत्पत्ति का कारण। साधन दो प्रकार के है - अभ्यन्तर और बाह्य।

दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम, क्षय या क्षयोपशम अभ्यन्तर साधन है। बाह्य साधन-शास्त्रज्ञान, प्रतिमादर्शन, सत्संग आदि अनेक साधन है।

4. **अधिकरण -** अधिकरण अर्थात् आधार। सम्यग्दर्शन का आधार जीव ही है, क्योंकि वह उसका परिणाम होने के कारण उसी में रहता है।

5. **स्थिति -** अर्थात् काल मर्यादा। जैसे सम्यग्दर्शन इतने समय तक रह सकता है। औपशमिक सम्यग्दर्शन का जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का उत्कृष्ट काल 66 सागरोपम है। औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन सान्त है, क्योंकि वह होकर भी स्थिर नहीं रहते। पर क्षायिक सम्यग्दर्शन अनंत काल है क्योंकि वह उत्पन्न होने के बाद नष्ट नहीं होता। जीव के साथ सिद्धावस्था में भी रहता है इसी अपेक्षा से सम्यग्दर्शन को सादि सांत और सादि अनंत समझना चाहिए।

6. **विधान -** वस्तु के भेद अथवा प्रकार। जैसे सम्यग्दर्शन के मुख्यतः कितने प्रकार है? सम्यग्दर्शन के औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक ऐसे तीन प्रकार है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दर्शन आदि विषयों का ज्ञान

- **निर्देश** – स्वरूप
- **स्वामित्व** – अधिकारी
- **साधन** – कारण
  - **अंतरंगकारण** – दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम, क्षयोपशम या क्षय
  - **बाह्य कारण** – शास्त्रज्ञान, प्रतिमा दर्शन, सत्संग आदि
- **अधिकरण** – आधार
- **स्थिति** – कालमर्यादा
- **विधान** – प्रकार या भेद
  - **औपशमिक**
  - **क्षायोपशमिक**
  - **क्षायिक**

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शन कालान्तर भावाल्प बहुत्वैश्च ।।8।।

सूत्रार्थ - सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व से भी सम्यग्दर्शन आदि विषयों का ज्ञान होता है।

विवेचन - 1. सत् - सत् का अभिप्राय सत्ता या अस्तित्व। यद्यपि सम्यक्त्व गुण सत्तारूप में सभी जीवों में विद्यमान है, पर अभिव्यक्ति केवल भव्य जीवों में ही हो सकती है, अभव्य में नहीं।

2. संख्या - अर्थात् गिनती। सम्यक्त्व की गिनती उसे प्राप्त करने वालों की संख्या पर निर्भर है। भूतकाल में अनंत जीवों ने सम्यक्त्व प्राप्त किया और भविष्य में भी अनंत जीव प्राप्त करेंगे, इस दृष्टि से सम्यग्दृष्टियों की संख्या अनंत है।

3. क्षेत्र - अर्थात् लोकाकाश। सम्यग्दर्शन का क्षेत्र पूरा लोकाकाश नहीं है किन्तु उसका असंख्यातवां भाग है।

4. स्पर्शन - निवास स्थान रूप आकाश और उसके चारों ओर के प्रदेशों को छूना स्पर्शन है। सम्यग्दर्शन का स्पर्शन क्षेत्र लोक का असंख्यातवां भाग है, किन्तु यह क्षेत्र की अपेक्षा बडा होता है। क्योंकि क्षेत्र में केवल आधार भूत आकाश ही आता है। जबकि स्पर्शन में जितने आकाश का आधेय (यहाँ सम्यग्दर्शन) स्पर्श करता है, उस सबको यहाँ सम्मिलित किया जाता है।

5. काल - अर्थात् समय। एक जीव की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन का काल सादि सान्त या सादि अनंत होता है पर सब जीवों की अपेक्षा से अनादि अनंत समझना चाहिए। क्योंकि भूतकाल में ऐसा कोई समय नहीं था जब सम्यग्दर्शन का अस्तित्व न रहा हो। इसी तरह भविष्य में भी सम्यग्दर्शन रहेगा और वर्तमान में तो है ही।

6. अन्तर - अर्थात् विरहकाल। विरहकाल अर्थात् सम्यक्त्व का अभाव। एक जीव की अपेक्षा सम्यग्दर्शन का विरहकाल जघन्य एक अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अपार्धपुद्गल परावर्तन जितना समय समझना चाहिए, क्योंकि एक बार सम्यक्त्व का वमन (नाश) हो जाने पर पुनः वह जल्दी से जल्दी अन्तर्मुहूर्त में प्राप्त हो सकता है। ऐसा न हुआ तो भी अन्त में अपार्धपुद्गल परावर्तन के बाद तो अवश्य प्राप्त होता ही है। किन्तु अनेक जीवों की अपेक्षा से विचार करे तो विरहकाल बिल्कुल नहीं होता क्योंकि नाना जीवों की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन किसी न किसी को होता ही है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

7. भाव - अर्थात् अवस्था विशेष या जीव का परिणाम। औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इन तीन अवस्थाओं में सम्यक्त्व पाया जाता है तथा इन तीन भावों से ही सम्यक्त्व की शुद्धता का ज्ञान किया जाता है।

8. अल्पबहुत्व - का अर्थ है न्यूनाधिकता कम और अधिक होना। इस अपेक्षा से औपशमिक सम्यग्दर्शन सबसे कम, क्षायोपशमिक इससे असंख्यात गुणा और क्षायिक अनन्तगुणा होता है। यह विचार सम्यक्त्वधारी जीवों की अपेक्षा से है।

सम्यग्ज्ञान के भेद

मतिश्रुतावधि-मनःपर्याय केवलानि ज्ञानम् ।।9।।

सूत्रार्थ - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान हैं।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में सम्यग्ज्ञान के पाँच मूल भेदों का उल्लेख किया गया हैं। उपर्युक्त सूत्र 2 में सम्यग्दर्शन का लक्षण बताया गया है वैसे यहाँ सम्यग्ज्ञान का लक्षण नहीं बताया गया है। क्योंकि सम्यग्दर्शन का लक्षण जान लेने से सम्यग्ज्ञान का लक्षण अपने आप जान लिया जाता है। अक्षर के अनंतवें भाग जितना ज्ञान हमेशा किसी न किसी प्रकार से जीव में अवश्य रहता ही है। जब जीव में सम्यक्त्व का आविर्भाव होता है तब वह ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान कहलाता है। यहाँ पर सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद बताये गये हैं :-

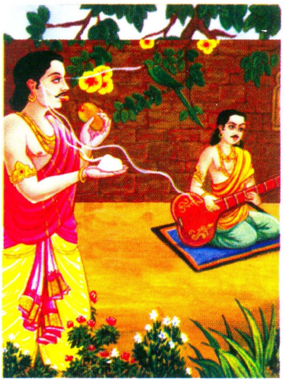

1. मतिज्ञान - पाँच इन्द्रिय एवं मन के माध्यम से आत्मा द्वारा सामने आये पदार्थ को जान लेने वाले ज्ञान को मतिज्ञान कहते है।

2. श्रुतज्ञान - शब्द, सकेंत या शास्त्र आदि के माध्यम से जो अर्थ ग्रहण किया जाता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। शब्द आदि सुनना या सकेंत आदि देखना मतिज्ञान है लेकिन शब्द, संकेत आदि से अर्थ का बोध होना श्रुतज्ञान है। जैसे कोई अंग्रेजी में कुछ गा रहा है, उसे हम नहीं समझते फिर भी शब्द तो कानों को टकराते हैं । लेकिन जब तक उसका अर्थ बोध नहीं होता तब तक मतिज्ञान और अर्थ का बोध होने पर श्रुतज्ञान होता हैं, इसलिए मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य है। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक ही होता है।

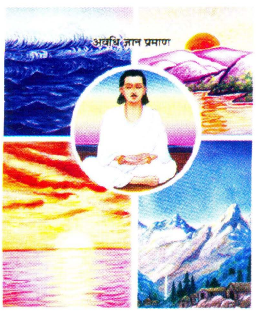

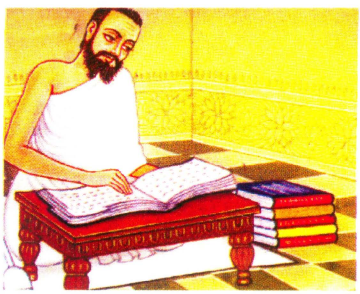

3. अवधिज्ञान - अवधि का अर्थ है - सीमा, मर्यादा। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा सहित इन्द्रिय और मन की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

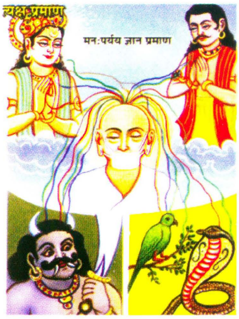

सहायता के बिना सीधे आत्मा के द्वारा मात्र रूपी पदार्थो को जानने वाला ज्ञान अवधिज्ञान है।

4. मन:पर्यायज्ञान - मन:पर्यायज्ञान का अर्थ है - प्राणियों के मन के चिन्तित अर्थ को जानने वाला ज्ञान। अत: संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों को जाननेवाला ज्ञान मन:पर्याय है।

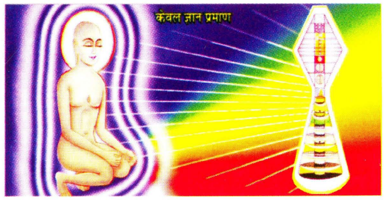

5. केवलज्ञान - समस्त लोकालोक और तीनों काल (भूत, भविष्य, वर्तमान) के सभी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाला ज्ञान केवलज्ञान है।

तत् प्रमाणे।।10।।

सूत्रार्थ - वह पाँचों प्रकार का ज्ञान दो प्रमाण रूप है।

आद्ये परोक्षम् ।।11।।

सूत्रार्थ - प्रथम दो ज्ञान (मति और श्रुत) परोक्ष प्रमाण हैं।

प्रत्यक्षमन्यत् ।।12।।

सूत्रार्थ - शेष तीन ज्ञान (अवधि, मन:पर्याय और केवल) प्रत्यक्ष प्रमाण रूप हैं।

विवेचन - प्रस्तुत तीनों सूत्रों में ज्ञान के प्रमाणत्व की चर्चा की गई है। बताया गया है कि वे पाँचों ही ज्ञान प्रमाण रूप हैं। प्रमाण का सामान्य लक्षण पहले ही बताया जा चुका है कि जो वस्तु को समग्र रूप से जानता है, वह प्रमाण है।

प्रमाण दो प्रकार का है 1. प्रत्यक्ष और 2. परोक्ष

प्रत्यक्ष प्रमाण - अक्ष का अर्थ है आत्मा । जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना सीधे आत्मा के द्वारा होता है वह प्रत्यक्ष है।

परोक्ष प्रमाण - जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है वह परोक्ष है।

उक्त पाँच ज्ञान में से प्रथम दो (मति और श्रुत) ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं, क्योंकि वे इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होते हैं।

शेष तीनों - अवधि, मन:पर्याय और केवल ज्ञान प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे सीधे आत्मा से उत्पन्न होते है।

Jain Education International

For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

प्रमाण
(वस्तु तत्व को समग्र रूप से जानना)

- **परोक्ष** — इन्द्रिय और मन की सहायता से होनेवाला ज्ञान
  - मति
  - श्रुत
- **प्रत्यक्ष** — आत्मा से सीधा होनेवाला ज्ञान
  - अवधि
  - मन:पर्याय
  - केवल

मतिज्ञान के अन्य पर्यायवाची नाम

मति, स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ।।13।।

सूत्रार्थ - मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध ये सब मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम है, इनके अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

विवेचन - इस सूत्र में मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम दिये गये हैं। यहाँ अर्थान्तर शब्द महत्वपूर्ण है। क्योंकि व्युत्पत्ति, धातु आदि तथा शब्द आदि नयों की अपेक्षा प्रत्येक शब्द में निहित वाच्यार्थ में कुछ न कुछ भेद तो होता ही है, इसी अपेक्षा से पर्यायवाची शब्दों के अर्थों में भी अन्तर होता है। किन्तु यहाँ अर्थान्तर शब्द द्वारा सभी अर्थ का निरसन करके, एकार्थता का सूचन किया गया है। फिर भी शब्दों के वाच्यार्थ की दृष्टि से इनके अर्थ इस प्रकार है -

1. **मति** - इन्द्रिय और मन से वर्तमान कालवर्ती पदार्थों को जानना।

2. **स्मृति** - स्मरण अनुभव में आये हुए पदार्थों का कालान्तर में पुनः ज्ञान पटल पर आना।

3. **संज्ञा** - संज्ञा को प्रत्यभिज्ञान भी कहते हैं। प्रत्यक्ष और स्मरण की सहायता से जो जोड रूप ज्ञान होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते है। वर्तमान में किसी पदार्थ को देख अथवा जानकर यह वही है जो पहले देखा जाना था ऐसा जोड रूप ज्ञान होना। प्रत्याभिज्ञान स्मृति का स्वरूप जहाँ वह मनुष्य है, वहाँ प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप ''यह वही मनुष्य है। यह वही मनुष्य है इस वाक्य में यह मनुष्य इन्द्रिय प्रत्यक्ष है और वही स्मृति में है। इन दोनों का योग होने पर जो ज्ञान होता है वह प्रत्यभिज्ञान है।

4. **चिन्ता** - भावी वस्तु को विचारने का नाम चिन्ता है।

5. **अभिनिबोध** - वस्तु को ग्रहण करने वाला स्पष्ट बोध को अभिनिबोध कहते है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तदिन्द्रियानन्द्रियनिमितम् ।।14।।

सूत्रार्थ - वह (मतिज्ञान) इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) के निमित्त से होता है।

विवेचन - इस सूत्र में मतिज्ञान के उत्पन्न होने के दो कारण बताये गये है। ये कारण है - इन्द्रिय और मन। ये दो बाह्य कारण हैं। अन्तरंग कारण तो मतिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है।

मतिज्ञान के भेद

अवग्रहेहावायधारणाः ।।15।।

सूत्रार्थ - मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद हैं।

विवेचन - इस सूत्र में मतिज्ञान के अवग्रह आदि प्रमुख चार भेद बताये गये हैं।

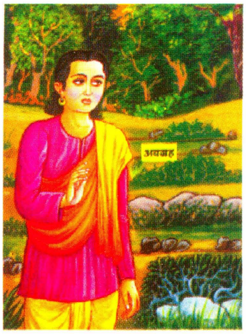

1. **अवग्रह -** नाम जाति आदि की विशेष कल्पना से रहित सामान्य रूप वस्तु को ग्रहण करने वाला अव्यक्त ज्ञान अवग्रह कहलाता है। इस ज्ञान में निश्चित प्रतीति नहीं होती कि किस पदार्थ का ज्ञान हुआ है। केवल इतना सा ज्ञात होता है कि ''यह कुछ है।''

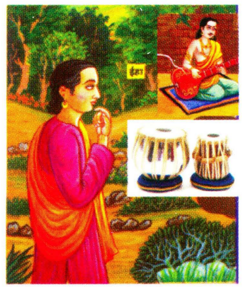

2. **ईहा -** ईहा शब्द का सामान्य अर्थ है - चेष्टा या इच्छा। अवग्रह के द्वारा जाने हुए पदार्थ को विशेष रूप से जानने की चेष्टा करना कि जो शब्द सुने हैं वो किसके हैं - तबले के हैं या वीणा के! मृदु शब्द हैं, इसलिए शायद वीणा के होने चाहिए।

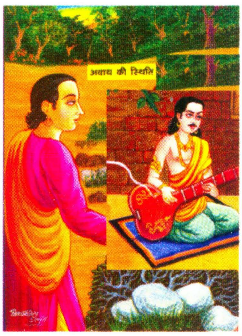

3. **अवाय -** ईहा के द्वारा जाने हुए पदार्थ का निश्चय हो जाना कि ये शब्द वीणा के ही हैं। ईहा में ये शब्द वीणा के होने चाहिए, इस प्रकार ज्ञान होता है जबकि अवाय में यह वीणा के ही है, इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान होता है।

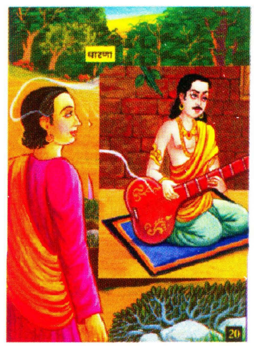

4. **धारणा -** अवग्रह, ईहा, अवाय द्वारा प्राप्त ज्ञान स्मृति में संजोकर रख लेना, कालान्तर में कभी भी विस्मृत न होने देना धारणा है। जैसे जब-जब वैसी आवाज आवे तो ये वीणा की आवाज है यह निर्णय पूर्व की धारणा के आधार से ही होती है।

Jain Education International

For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

बहु-बहुविध-क्षिप्रा-ऽनिश्रिता-ऽसंदिग्ध-ध्रुवाणां सेतराणाम् ।।16।।

सूत्रार्थ - बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, असंदिग्ध और ध्रुव - ये छः तथा (सेतराणाम-प्रतिपक्ष सहित) अर्थात् इनसे विपरीत, एक, एकविध, अक्षिप्र, निश्रित, संदिग्ध और अध्रुव - ये छः इस तरह कुल बारह प्रकार से अवग्रह, ईहा आदि रूप मतिज्ञान होता है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में अवग्रह ईह आदि के उपभेदों का वर्णन किया गया है।

1. **बहु -** दो या दो से अधिक पदार्थ का ज्ञान।

2. **अल्प -** एक वस्तु को ग्रहण करने वाला ज्ञान।

3. **बहुविध -** अनेक जातियों का अवग्रहादि। जैसे हापुस, लंगडा, केसरी आम।

4. **एकविध -** एक जाति का अवग्रहादि। जैसे एक जाति का आम, लंगडा

बहु - अल्प का तात्पर्य वस्तु की संख्या से है और बहुविध, एक विध का तात्पर्य प्रकार या जाति से है।

5. **क्षिप्र -** क्षयोपशम की निर्मलता से शब्दादि का शीघ्र ग्रहण करना।

6. **अक्षिप्र -** शब्द आदि को विलम्ब अथवा देरी से ग्रहण करना।

7. **अनिश्रित -** वस्तु को बिना चिन्हों के ही जानने की क्षमता रखना।

8. **निश्रित -** किसी पदार्थ को उनके चिन्हों से जानना।

9. **असंदिग्ध -** पदार्थ का संशय रहित ज्ञान।

10. **संदिग्ध -** वस्तु को जानने में संशय रह जाना।

असंदिग्ध और संदिग्ध को अनिश्चित और निश्चित भी कहा जाता है।

11. **ध्रुव -** जो मतिज्ञान एक बार ग्रहण किये हुए अर्थ को सदा के लिए स्मृति में धारण किये रहे।

12. **अध्रुव -** जो ज्ञान सदा काल स्मरण न रहे, विस्मृत हो जाए।

अर्थस्य ।।17।।

सूत्रार्थ - अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा - इन चारों से अर्थ (वस्तु का प्रकट रूप) का ग्रहण होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यञ्जनस्यावग्रह ।।18।।

सूत्रार्थ - व्यंजन (अप्रकट रूप पदार्थ) का केवल अवग्रह ही होता है।

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ।।19।।

सूत्रार्थ - चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता।

विवेचन - प्रस्तुत तीनों सूत्रों में अवग्रह के दो भेद बताये है। 1. व्यंजनावग्रह और2. अर्थावग्रह

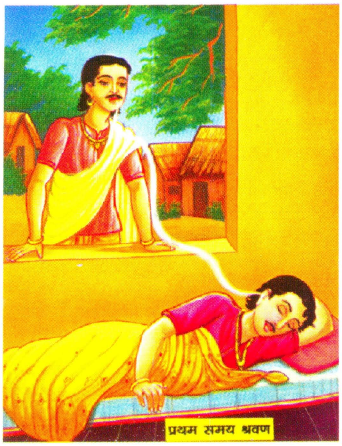

व्यंजनावग्रह - इन्द्रियों का पदार्थ के साथ संयोग तथा अव्यक्त अप्रकट पदार्थ का अवग्रह उसे व्यंजनावग्रह कहते हैं। जैसे शब्द का कान से टकराना। 'कुछ है' यह स्पष्ट निर्णय भी यहाँ नहीं होता।

अर्थावग्रह - 'कुछ है' इस प्रकार का ज्ञान। व्यक्त प्रकट पदार्थ के अवग्रह को अर्थावग्रह कहते हैं। जैसे आवाज (शब्दों) को महसूस करना। व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह किस प्रकार होते हैं अथवा इन्द्रिय का विषय के साथ सम्पर्क होने पर ज्ञान का क्रम कितने धीरे-धीरे आगे बढता है - इसे समझने के लिए दृष्टांत दिया जाता है।

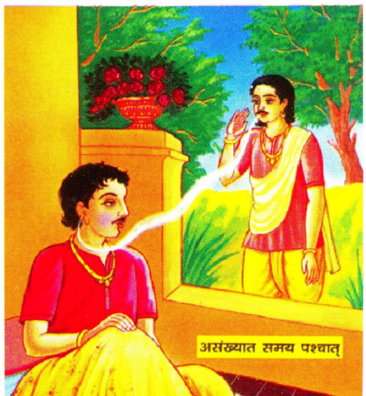

एक व्यक्ति गहरी नींद में सोया हुआ है। दूसरा व्यक्ति उसे जगाने के लिए बार-बार आवाज देता है। वह सोया हुआ व्यक्ति पहली बार आवाज देने पर नहीं जागता। दूसरी बार आवाज देने पर भी नहीं जागता। इस प्रकार बार-बार आवाज देने पर जब उसके कान उस ध्वनि-पुद्‌गलों से पूरी तरह भर जाते हैं, तब वह अवबोध सूचक 'हूँ' यह शब्द करता है। ध्वनि-पुद्‌गलों से कान के आपूरित होने में असंख्य समय लगता है। इन्द्रिय और विषय का यह असंख्य समय वाला प्राथमिक संबंध व्यंजनावग्रह है। इसके पश्चात् व्यंजनावग्रह से कुछ ज्यादा व्यक्त किन्तु फिर भी अव्यक्त 'शब्द' का ग्रहण अर्थावग्रह है। अर्थावग्रह को अव्यक्त इसलिए कहा जाता है कि इसमें भी जाति, गुण, द्रव्य की कल्पना से रहित वस्तु का ग्रहण यानि बोध होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मतिज्ञान के 336 भेद

व्यंजनावग्रह (अप्रकट अव्यक्त)	अर्थावग्रह (प्रकट व्यक्त)
अवग्रह - 1	अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा - 4
चक्षु और मन के अलावा शेष 4 इन्द्रियों से × 4	पाँचों इन्द्रियों एवं मन से × 6
12 प्रकार के पदार्थ × 12 बहु-बहुविध आदि	12 प्रकार के पदार्थ × 12
कुल 48	कुल 288

48 + 288 = 336

श्रुतज्ञान का स्वरूप व भेद

श्रुतं मतिपूर्व द्वयनेक-द्वादशभेदम् ।।20।।

सूत्रार्थ - श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। जिसके दो, अनेक तथा बारह भेद होते हैं।

विवेचन - मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य है क्योंकि मतिज्ञान से श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिए उसको मतिपूर्वक कहा गया है। किसी भी विषय का श्रुतज्ञान प्राप्त करने के लिए उसका मतिज्ञान पहले आवश्यक है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान का कारण तो है, पर वह बहिरंग कारण है। अन्तरंग कारण तो श्रुतज्ञानावरणीय का क्षयोपशम है।

क्योंकि किसी विषय का मतिज्ञान हो जाने पर भी यदि क्षयोपशम न हो तो उस विषय का श्रुतज्ञान नहीं हो सकता।

श्रुतज्ञान के दो प्रकार - अंगबाह्य, अंगप्रविष्ट इनमें अंग बाह्य अनेक प्रकार के है और अंग प्रविष्ट के बारह प्रकार है।

अंगबाह्य श्रुत - परमात्मा की वाणी के आधार पर जिन ग्रन्थों की रचना श्रुत केवली, स्थविर आदि करते है वे अंग बाह्य कहलाते हैं।

अंग प्रविष्ट - तीर्थंकर परमात्मा अर्थ रूप उपदेश देते है। उस अर्थ रूप उपदेश को गणधर सूत्र रूप में गूंथते है वे सूत्र अंगप्रविष्ट कहलाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अवधिज्ञान के भेद और स्वामी

द्विविधोवधिः ।।21।।

सूत्रार्थ - अवधिज्ञान दो प्रकार का है। a. भवप्रत्यय और b. गुणप्रत्यय या क्षायोपशमिक

तत्रभवप्रत्ययो नारक देवानाम् ।।22।।

सूत्रार्थ - भवप्रत्यय अवधिज्ञान नारक और देवों को होता हैं।

यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ।।23।।

सूत्रार्थ - गुणप्रत्यय (क्षायोपशमिक) अवधिज्ञान छः प्रकार का है और वह मनुष्य और तिर्यंच संज्ञी पंचेन्द्रिय को होता हैं।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्रों में अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय ये दो भेद बताये गये हैं। वे किन-किन गति के जीवों को प्राप्त होते हैं तथा गुणप्रत्यय के छः भेद का भी संकेत किया है।

अवधिज्ञान के दो भेद है। a) भवप्रत्यय अवधिज्ञान और b) गुणप्रत्यय अवधिज्ञान

a) भवप्रत्यय अवधिज्ञान - जिस अवधिज्ञान के क्षयोपशम में भव (जन्म) निमित्त बनता है अर्थात् जो जन्म के साथ ही प्रकट होता है, वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहलाता है। देवगति ओर नरकगति में पैदा होनेवाले प्राणियों को यह ज्ञान जन्म से ही प्राप्त होता है। उन्हें भी यह ज्ञान प्राप्त तो क्षयोपशम से ही होता है पर उस क्षयोपशम के लिए उन्हें कोई प्रयत्न या पुरूषार्थ नहीं करना पड़ता। नरक और देव में उत्पन्न होने मात्र से ही उनका वैसा क्षयोपशम हो जाता है।

तीर्थंकर बनने वाले जीव को अवधिज्ञान भव प्रत्यय ही होता है। यद्यपि तीर्थंकर मनुष्य होते हैं और मनुष्यों को होने वाला अवधिज्ञान पुरूषार्थ सापेक्ष होता है जन्मजात नहीं, फिर भी तीर्थंकर इस विषय में अपवाद होते हैं, क्योंकि वे गर्भ से ही तीन ज्ञान (मति, श्रुत और अवधि) से युक्त होते हैं।

b) गुणप्रत्यय अवधिज्ञान - अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जो अवधिज्ञान प्राप्त होता है, वह क्षायोपशमिक या गुणप्रत्यय अवधिज्ञान कहलाता है। यह मनुष्य और तिर्यंच गति में होता है। यह अवधिज्ञान जन्मजात नहीं होता।

इस अवधिज्ञान के छः प्रकार हैं -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

1. अनुगामी अवधिज्ञान - जो अवधिज्ञान अपने उत्पत्ति क्षेत्र को छोड़कर दूसरे स्थान पर चले जाने पर भी विद्यमान रहता है, जो एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में अथवा एक जन्म से दूसरे जन्म में

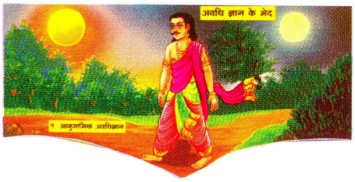

जाते समय अपने स्वामी के पीछे-पीछे अनुगमन करे उसे अनुगामी अवधिज्ञान कहते हैं। जैसे चलते हुए व्यक्ति के साथ नेत्र, सूर्य के साथ आतप धूप तथा चन्द्र के साथ चाँदनी रहती है, इसी तरह जो निरन्तर ज्ञानी के साथ-साथ रहे, वह अनुगामी अवधिज्ञान है।

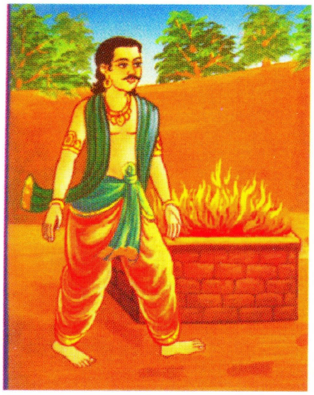

2. अननुगामी अवधिज्ञान - जो अवधिज्ञान जिस क्षेत्र में उत्पन्न होता है, उसी स्थान पर स्थित होकर पदार्थ को देख सकता है, उस क्षेत्र को छोडकर अन्यत्र जाने पर साथ-साथ नहीं जाता वह अननुगामी अवधिज्ञान कहलाता है। जैसे दीपक जहाँ स्थित हो वहीं से वह प्रकाश प्रदान करता है, पर किसी प्राणी के साथ नहीं चलता। वैसे यह अननुगामी अवधिज्ञान जहाँ उत्पन्न हुआ है वहीं रहकर जान सकता है अन्यत्र नहीं।

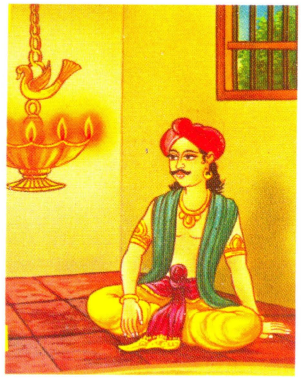

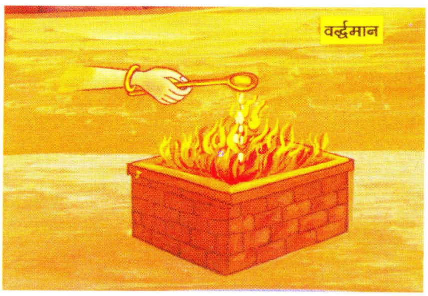

3. वर्धमान अवधिज्ञान - जो अवधिज्ञान उत्पन्न होने के बाद बढ़ता रहता है वह वर्धमान अवधिज्ञान है। जैसे जैसे अग्नि में ईंधन डाला जाता है वैसे-वैसे वह अधिकाधिक प्रज्ज्वलित होती है तथा उसका प्रकाश भी बढता जाता है। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों परिणामों में विशुद्धि बढ़ती जाती है त्यों-त्यों अवधिज्ञान के माध्यम से देखे जा सकने वाले क्षेत्र और काल भी वृद्धि प्राप्त होते जाते हैं।

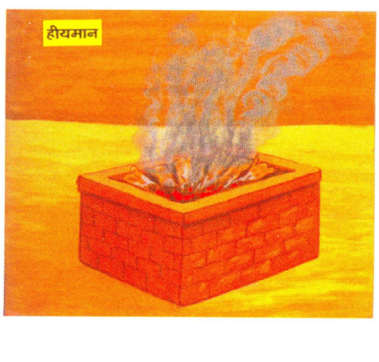

4. हीयमान अवधिज्ञान - जो अवधिज्ञान उत्पन्न होने के बाद घटता रहता है वह हीयमान अवधिज्ञान है। जिस प्रकार घी ईंधन आदि के अभाव में आग धीरे धीरे मंद पड जाती है। उसी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार परिणामों में अशुद्धता बढ़ती जाने पर अवधिज्ञान भी हीन होता जाता है।

5. प्रतिपाति अवधिज्ञान - जैसे तेल के समाप्त हो जाने पर दीपक प्रकाश देते-देते एकदम बुझ जाता है वैसे ही जो अवधिज्ञान प्राप्त होने के कुछ समय बाद एकदम लुप्त (नष्ट) हो जाता है वह प्रतिपाति अवधिज्ञान है।

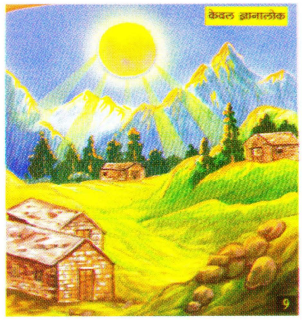

6. अप्रतिपाति अवधिज्ञान - जो अवधिज्ञान केवलज्ञान उत्पन्न होने तक रहता है अर्थात् विनष्ट नहीं होता, वह अप्रतिपाति अवधिज्ञान है।

अवधिज्ञान
(आत्मा के द्वारा रूपी पदार्थो को जानने वाला ज्ञान)

भवप्रत्यय	**गुणप्रत्यय**
जन्म से	अवधिज्ञानावरणीय क्षयोपशम से
नारक और देव	मनुष्य और तिर्यंच संज्ञी पंचेन्द्रिय

गुणप्रत्यय

अनुगामी	**अननुगामी**	**वर्धमान**	**हीयमान**	**प्रतिपाती**	**अप्रतिपाती**
साथ-साथ चलता	साथ साथ नही चलता	बढ़ता हुआ	घटता हुआ	एकदम नष्ट होना	केवलज्ञान तक रहना

मनपर्यायज्ञान के भेद और उनका अन्तर

ऋजुविपुलमती मन:पर्याय: ।।24।।

सूत्रार्थ - ऋजुमति और विपुलमति ये दो मन:पर्याय ज्ञान के भेद हैं।

विशुद्धय पतिपाताभ्यां तद्विशेष: ।।25।।

सूत्रार्थ - विशुद्धि और अप्रतिपाती की अपेक्षा से इन दोनों में अन्तर हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन - प्रस्तुत सूत्रों में मन:पर्याय के भेद तथा ऋजुमति और विपुलमति की विशेषताएँ बताई गई है।

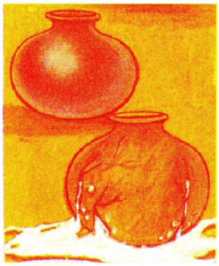

1. ऋजुमति मन:पर्यायज्ञान - ऋजु अर्थात् सरल। दूसरों के मनोगत भावों को सामान्य रूप से जानना ऋजुमति मन:पर्याय ज्ञान कहलाता है जैसे कोई व्यक्ति घट के बारे में चिंतन कर रहा है तो ऋजुमति मन:पर्यवज्ञानी यह तो जान लेता है अमुक व्यक्ति घट का चिंतन कर रहा है पर वह यह नहीं जाना पाता है कि घट का आकार क्या है, किस द्रव्य से बना हुआ है, मिट्‌टी का या सोने का आदि आदि।

2. विपुलमति - विपुल अर्थात् सरल और वक्र या सामान्य और विशेष। दूसरे के मनोगत भावों को सामान्य और विशेष रूप से जानना विपुलमति मन:पर्यायज्ञान कहलाता है। जैसे किसी घट के बारे में चिंतन किया तो विपुलमति मन:पर्यवज्ञानी केवल घट मात्र को नहीं जानेगा अपितु उसके देश, काल आदि अनेक पर्यायों को भी जान लेगा। जिस व्यक्ति ने जिस घट का चिंतन किया है वह सोने से बना हुआ है। राजस्थान में बना हुआ है आदि आदि।

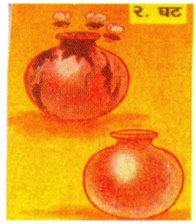

ऋजुमति, विपुलमति मन:पर्यायज्ञान में अन्तर

ऋजुमति	विपुलमति
1. सरल या सामान्य स्थूल ज्ञान।	1. सरल व वक्र या सामान्य और विशेष सूक्ष्म ज्ञान
2. कम विशुद्धता होती है।	2. अधिक विशुद्धता होती है।
3. प्रतिपाती है अर्थात् आने के बाद विलुप्त हो सकता है।	3. अप्रतिपाती है अर्थात् विलुप्त नहीं होता।
4. उसी भव में केवलज्ञान प्राप्त कराना ऐसा नियम नहीं है।	4. उसी भव में केवलज्ञान प्राप्त कराता है।
5. जघन्य से जीवों के दो तीन भवों को ग्रहण करता है उत्कृष्ट गति-आगति की अपेक्षा से सात आठ भवों का कथन कर सकता है।	5. जघन्य सात आठ भव और उत्कृष्ट असंख्यात भवों का कथन कर सकता है।

अवधिज्ञान और मन:पर्याय ज्ञान में अन्तर

विशुद्धि - क्षेत्र - स्वामि - विषयेभ्योऽवधि - मन:पर्यायो: ।।26।।

सूत्रार्थ - विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय के द्वारा अवधि और मन:पर्यायज्ञान में अन्तर होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में अवधिज्ञान और मन:पर्यायज्ञान में अन्तर बताये हैं।

	अवधिज्ञान	**मन:पर्यायज्ञान**
विशुद्धि	कम विशुद्ध	अधिक विशुद्ध
क्षेत्र	अंगुल के असंख्यात वें भाग से लेकर संपूर्ण लोकाकाश तक।	मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त
स्वामी	चारो गति के संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव को हो सकता है।	मनुष्य को ही होता है। मनुष्य में भी गर्भज-कर्मभूमि-पर्याप्त -सम्यग्दृष्टि-संयमी-अप्रमत्त -किसी ऋद्धि सम्पन्न को ही मन:पर्याय ज्ञान हो सकता है।
विषय	रूपी पदार्थ के कुछ पर्याय	अवधिज्ञान के विषय का अनंतवा भाग। (मन के विकल्प ज्यादा सूक्ष्म होते हैं)

यद्यपि अवधिज्ञान का अनन्तवां भाग मन:पर्याय का विषय होता है अत: अल्प विषय है फिर भी वह उस द्रव्य की बहुत पर्यायों को जानता है। जैसे बहुत शास्त्रों का थोड़ा थोड़ा परिचय रखनेवाले पल्लवग्राही पंडित से एक शास्त्र के यावंत् सूक्ष्म अर्थो को तलस्पर्शी गंभीर व्याख्याओ से जाननेवाला प्रगाढ़ विद्वान् विशुद्धतर माना जाता है। उसी तरह मन:पर्याय भी सूक्ष्मग्राही होकर भी विशुद्धतर है।

पाँच ज्ञानों का विषय

मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्व द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ।।27।।

सूत्रार्थ - मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय सर्व द्रव्य होते हैं किन्तु उनकी सर्व पर्यायें नहीं।

रूपिष्ववधेः ।।28।।

सूत्रार्थ - अवधिज्ञान का विषय सर्व पर्याय रहित केवल रूपी द्रव्य होते हैं।

तदनन्तभागे मन:पर्यायस्य ।।29।।

सूत्रार्थ - मन:पर्यायज्ञान का विषय अवधिज्ञान का अनंतवाँ भाग होता है।

सर्व द्रव्य - पर्यायेषु केवलस्य ।।30।।

सूत्रार्थ - सभी द्रव्य की सभी पर्यायें केवलज्ञान के विषय हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पाँच ज्ञान के विषय

	मति-श्रुत	अवधि	मन:पर्याय	केवल
द्रव्य	सर्व द्रव्य	रूपी द्रव्य	रूपी द्रव्य	सर्व द्रव्य
पर्याय	कुछ पर्यायें	कुछ पर्यायें	अवधिज्ञान का अनन्तवां भाग	सर्व पर्यायें

एक जीव को एक साथ कितने ज्ञान संभव

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ।।31।।

सूत्रार्थ - एक साथ एक जीव को एक से लेकर चार ज्ञान विकल्प से अनियत रूप से हो सकते हैं।

विवेचन - इस सूत्र में एक आत्मा में एक साथ कम से कम कितने और अधिक से अधिक कितने ज्ञान हो सकते हैं इस बात का निर्देश किया है।

यदि 1 ज्ञान हो तो - केवलज्ञान

यदि 2 ज्ञान हो तो - मति और श्रुतज्ञान

यदि 3 ज्ञान हो तो - मति, श्रुत और अवधि या मति, श्रुत और मन:पर्यायज्ञान

यदि 4 ज्ञान हो तो - मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यायज्ञान

पाँचों ज्ञान एक साथ किसी को नहीं हो सकते हैं, क्योंकि केवलज्ञान में चारों ज्ञान विलीन हो जाते हैं।

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ।।32।।

सूत्रार्थ - मति, श्रुत और अवधि ये तीनों विपर्यय (अज्ञान रूप) भी हैं।

विवेचन - मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान और अवधि ज्ञान मिथ्या भी होते है और सम्यक् भी।

मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यादर्शन के साथ रहने के कारण इन ज्ञानों में मिथ्यात्व आ जाता है जैसे कड़वी तुंबड़ी में रखा हुआ दूध कडुआ हो जाता है उसी तरह मिथ्यादृष्टि रूप आधार दोष से ज्ञान में मिथ्यात्व आ जाता है। सम्यग्दर्शन के होते ही मत्यादि का मिथ्याज्ञान हटकर उनमें सम्यक् ज्ञान आ जाता है और मिथ्यादर्शन के उदय में ये - मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभंगज्ञान हो जाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मिथ्याज्ञान के भेद

सद्सतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरून्मत्तवत् ।।33।।

सूत्रार्थ - सत् (वास्तविक) और असत् (काल्पनिक) पदार्थों में भेद नहीं करने से यदृच्छोपलब्ध (चाहे जैसा मानने के कारण) मिथ्यादृष्टि का ज्ञान उन्मत्त की तरह अज्ञानरूप ही होता है।

विवेचन - यहाँ पर प्रारम्भ के तीन ज्ञान विपर्यय होते है यह बतलाकर वे विपर्यय क्यों होते है यह बतलाया गया है। संसारी जीव की श्रद्धा विपरीत और सम्यक् के भेद से दो प्रकार की होती है।

विपरीत श्रद्धावाले जीव को विश्व का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। आत्मा और परमात्मा के स्वरूप बोध से तो वह सर्वथा वंचित ही रहता है। वह घट को घट और पट को पट ही कहता है, पर जिन तत्त्वों से इनका निर्माण होता है उनका इसे यथार्थ बोध नहीं हो पाता। यही कारण है कि जीव की श्रद्धा के अनुसार ज्ञान भी सम्यक्ज्ञान और मिथ्याज्ञान इन दो भागों में विभक्त हो जाता है। यथार्थ श्रद्धा होने पर जो ज्ञान होता है उसे सम्यग्ज्ञान कहते है। और यथार्थ श्रद्धा न होने पर जो ज्ञान होता है उसे मिथ्याज्ञान कहते है। ऐसे मिथ्याज्ञान तीन माने गये हैं - कुमति, कुश्रुत और विभंगज्ञान। ये तीन ज्ञान ही मिथ्या होते हैं।

उन्मत्त (पागल) व्यक्ति वस्तु को उसके सही स्वरूप से नहीं, अपनी इच्छा से अपनी कल्पना से स्वीकारता है वह कभी घट को घट कहेगा, कभी पट। उसी तरह मिथ्यात्वी वस्तु को उसके अनंत सही पर्याय से नहीं स्वीकारता किन्तु अपनी मिथ्या मान्यता के आधार पर स्वीकारता है।

नय के भेद

नैगम-संग्रह-व्यवहारर्जुसूत्र-शब्दा नयाः ।।34।।

सूत्रार्थ - नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द ये पांच नय हैं।

आघ-शब्दौ द्वि-त्रि भेदौः ।।35।।

सूत्रार्थ - आद्य अर्थात् प्रथम नैगम नय के दो और शब्द नय के तीन भेद हैं।

विवेचन - प्रस्तुत दोनों सूत्रों में नयों के नामों का निर्देश किया गया है साथ ही यह भी बतालाया है कि नैगम नय के दो भेद है और शब्द नय के तीन भेद हैं।

नय के भेदों की संख्या के विषय में कोई एक निश्चित परम्परा नहीं है। इनकी तीन परम्पराएँ देखने में आती है। एक परम्परा सात नयों को मानती है। जैसे नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नय। यह परम्परा जैनागमों एवं दिगम्बर ग्रन्थों की है। दूसरी परम्परा आचार्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धसेन दिवाकर की है। वे नैगमनय को छोडकर शेष छः नयों को मानते हैं। तीसरी परम्परा प्रस्तुत सूत्र की है। इसके अनुसार नय के मूल पांच भेद है और बाद में प्रथम नैगम नय के दो भेद सामान्य और विशेष या सर्वग्राही और देशग्राही तथा शब्द नय के साम्प्रत, समभिरूढ और एवंभूत ये तीन भेद मानते हैं।

नय - लोक में अनंत पदार्थ है। प्रत्येक पदार्थ अनंत धर्मात्मक गुणात्मक है। नय पदार्थ में विद्यमान गुणों में से एक समय में एक ही गुण अंश को जानने की पद्धति है या पदार्थ के अनंत धर्मो में से किसी एक की मुख्यता करके अन्य धर्मो का विरोध किये बिना उन्हें गौण करके साध्य को सिद्ध करना नय हैं।

कहा गया है, **वक्तुरभिप्रायो नयः** अर्थात् वक्ता के अभिप्राय को नय कहते है। किसी एक प्रसंग को लेकर जितने वचन व्यवहार (कथन करने की शैलियाँ) सम्भव है, उतने ही नय होते है। फिर भी मोटे तौर पर जैनाचार्यो ने सात नयों का निर्देश दिया है जो इस प्रकार है।

1. नैगम नय - संकल्प मात्र को ग्रहण करने वाला नैगम नय है। जैसे कोई पुरुष प्रस्थक बनाने के लिए फरसा लेकर लकडी काटने जंगल जा रहा है। उसे कोई पूछता है कि तुम कहाँ जा रहे हो? वह उत्तर देता है ''प्रस्थक लेने जा रहा हूँ अथवा, यहाँ कौन जा रहा है इस प्रश्न के उत्तर में ''बैठा हुआ'' कोई व्यक्ति कहे कि ''मैं जा रहा हूँ इन दोनों दृष्टांतों में प्रस्थक और गमन के संकल्प मात्र में वे व्यवहार किये गये हैं। शब्द के जितने अर्थ लोक प्रचलित है उन सबको यह नय मान्य करता है। इस नय में वक्ता की दृष्टि केवल वर्तमान पर ही नहीं होती भूत और भविष्यकालिन साध्य पर भी होती है। जैसे प्रत्येक चैत्र सुदी तेरस के दिन को भगवान महावीर जन्म कल्याणक दिवस कहना भूत नैगम नय है, पद्मनाभ स्वामी (श्रेणिक महाराजा का जीव) को अभी से तीर्थंकर मान कर पूजा स्तुति-स्तवनादि करना ''भविष्य नैगम नय'' अथवा क्रियमाण को कृत कहना वर्तमान नैगमनय है।

नैगम नय के दो प्रकार हैं :-

a) सर्वग्राही और b) देशग्राही

a) सर्वग्राही नैगमनय - यह सामान्य को ग्रहण करता है। जैसे यह घड़ा है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

b) देशग्राही नैगमनय - यह देश अर्थात् विशेष अंश को ग्रहण करता है। जैसे यह चांदी का घड़ा है, मिट्टी का घड़ा है आदि।

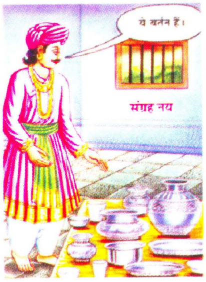

2. संग्रह नय - जिस नय में समूह की अपेक्षा से पदार्थ का विचार किया जाता है या अलग-अलग पदार्थों के इकट्ठा हो जाने पर उस समुदाय को एक शब्द में कहना उसे संग्रहनय कहते है। जैसे बगीचा, बर्तन आदि । बर्तन में थाली, गिलास, चम्मच, कटोरी आदि सबका संग्रह रहने से सबका कथन हो जाता है। यह वस्तु में अभेद मानता है। इस नय में सामान्य गुण को प्रधानता दी जाती है।

3. व्यवहार नय - संग्रह नय के द्वारा गृहीत अर्थो का विशेषता के आधार से विधिपूर्वक विभाग करनेवाला व्यवहार नय है। जैसे संग्रह नय में बर्तन कहा गया जिसमें थाली, गिलास आदि सब आ गये किन्तु व्यवहार नय की अपेक्षा से थाली को थाली, गिलास को गिलास कहना। इसमें विशेष गुण को प्रधानता दी जाती है।

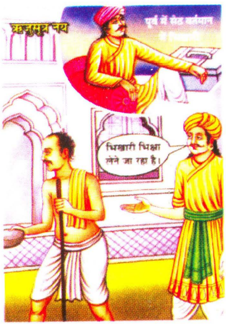

4. ऋजुसूत्र नय - वर्तमान क्षण में होनेवाली पर्याय को मुख्य रूप से ग्रहण करने वाले नय को ऋजुसूत्र नय कहते हैं। इसमें पदार्थ की वर्तमान पर्याय को ही ग्रहण किया जाता है भूत और भविष्य को गौण कर दिया जाता है। जैसे कोई कभी सेठ रहा हो किन्तु वर्तमान में वह भिखारी हो जाये तो उसे इस नय की अपेक्षा से सेठ नहीं कहेंगे भिखारी ही कहेंगे।

5. शब्द नय - जो नय लिंग, वचन, काल-कारक आदि के दोषों को दूर करके पदार्थ का कथन करता है उसे शब्द नय कहते है। इस नय में शब्दों का वाच्यार्थ उनकी क्रिया, विभक्ति, काल, कारक, लिंग, वचन आदि के आधार पर भिन्न हो सकता है। इस नय में पुल्लिंग का वाच्य अर्थ स्त्रीलिंग का वाच्य अर्थ नहीं बन सकता और स्त्रीलिंग का वाच्य अर्थ नपुंसक लिंग नहीं बन सकता है।

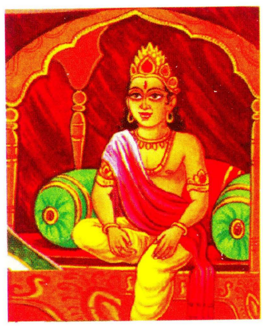

पहाड का जो अर्थ है वह पहाड़ी शब्द से व्यक्त नही हो सकता क्योंकि जहाँ लिंग भेद होता है वहाँ अर्थ भेद भी होता है जैसे पुत्र और पुत्री में।

यह नय एक लिंग वाले पर्यायवाची शब्दों में भेद नहीं मानता। जैसे एक ही अर्थ के बोधक- इन्द्र, शक्रेन्द्र, पुरन्दर आदि।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शब्द नय के तीन भेद बताये गये हैं - साम्प्रत, समभिरूढ़, और एवंभूत। किन्तु साम्प्रत शब्द अधिक प्रचलित नहीं है, सामान्यतः 'शब्द' ही प्रचलित है।

6. समभिरूढ़ नय - पर्यायवाची शब्दों में भी व्युत्पत्ति के आधार पर भिन्न अर्थ को माननेवाला नय समभिरूढ़ नय है। इस नय में जो शब्द जिस रूढ़ अर्थ में प्रयुक्त है, उसे उसी रूप में प्रयोग किया जाता है। इस नय के अनुसार प्रत्येक शब्द के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। जैसे इन्द्र, शक्रेन्द्र, पुरन्दर आदि शब्द पर्यायवाची है अतः शब्द नय की दृष्टि से इनका अर्थ एक है, परन्तु समभिरूढ़ नय की अनुसार इनके अलग अलग अर्थ है। इन्द्र शब्द से ऐश्वर्यशाली का बोध होता है, पुरन्दर से विनाशक तथा शक्रेन्द्र से शक्ति सम्पन्न का बोध होता है।

7. एवंभूत नय - पदार्थ जिस समय अपनी अर्थ क्रिया में प्रवृत्त हो उसी समय उस शब्द का वाच्य मानना चाहिए - ऐसी निश्चय दृष्टि वाला नय एवंभूत नय है। इन्द्र अपने आसन पर जिस समय शोभित हो रहा हो उस समय उसे इन्द्र कहना चाहिए। जिस समय वह शक्ति का प्रयोग कर रहा हो उस समय उसे इन्द्र न कहकर शक्रेन्द्र कहना चाहिए और जिस समय वह नगर का ध्वंस कर रहा हो उस समय उसे पुरंदर कहना चाहिए।

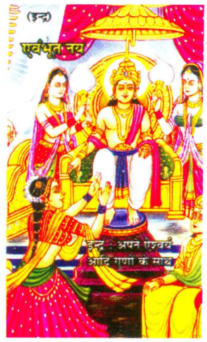

इस प्रकार हम देखते है कि जैन दर्शन का यह नय-सिद्धान्त वाक्य-संरचना, वक्ता की शैली और तात्कालिक संदर्भो के आधार पर वक्ता के अभिप्राय को समझने का सही माध्यम है।

नय के भेद

नैगम	संग्रह	व्यवहार	ऋजुसूत्र	शब्द	समभिरूढ	एवंभूत
संकल्प मात्र को ग्रहण करने वाला नय	समुह की अपेक्षा से विचार करने वाला नय	विधिपूर्वक विभाग करने वाला नय	वर्तमान पर्याय मात्र को ग्रहण करने वाला नय	लिंग आदि दोषों को दूर करके पदार्थ का कथन करने वाला नय	पर्यायवाची शब्दों से भेदकर पदार्थ को ग्रहण करने वाला नय	उसी क्रिया रूप परिणमित पदार्थ को ग्रहण करने वाला नय

।। प्रथम अध्याय समाप्त ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय अध्ययन

✻ जीव विचारणा ✻

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय अध्याय

जीव विचारणा

प्रथम अध्याय में सात तत्त्वों का नाम निर्देश किया गया है। आगे के नौ अध्यायों में क्रमश: उनके विशेष विस्तार रूप विवेचन किया जायेगा। इस अध्याय में जीव तत्त्व का स्वरूप, उसके भेद, प्रभेद, इन्द्रियाँ, मरण के समय गति, जन्म ग्रहण की योनियाँ, लिंग आदि का वर्णन किया जा रहा है।

जीव के असाधारण भाव

औपशमिक क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक पारिणामिकौ च ।।1।।

सूत्रार्थ : औपशमिक, क्षायिक, मिश्र (क्षायोपशमिक), औदयिक और पारिणामिक ये पांचों ही भाव जीव के स्वतत्त्व है।

विवेचन : इस सूत्र में बताये गये पांचों भाव जीव के अपने ही स्वतत्त्व है । भाव का अर्थ है, पर्यायों की भिन्न भिन्न अवस्था। आत्मा अधिक से अधिक पांच भाव वाली हो सकती हैं। ये पांच भाव हैं 1. औपशमिक, 2. क्षायिक, 3. क्षायोपशमिक, 4. औदयिक और 5. पारिणामिक।

1. औपशमिक भाव : जीव का यह भाव उपशम से उत्पन्न होता है। जिस प्रकार मलिन जल में फिटकरी आदि पदार्थ डालने से उसकी मलिनता नीचे बैठ जाती है और पानी स्वच्छ दिखाई देने लगता उसी प्रकार मोहनीय कर्मो के उपशम (उदय न होने से) जीव के परिणामों में जो विशुद्धि हो जाती है, वह औपशमिक भाव है।

2. क्षायिक भाव : क्षायिक भाव कर्मो के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होता है। कर्मों के क्षय से जीव के परिणाम अत्यन्त विशुद्ध और निर्मल होते हैं, जैसे सर्वथा मैल के निकल जाने पर जल नितान्त स्वच्छ हो जाता है।

3. क्षायोपशमिक भाव : यह भाव क्षय और उपशम से उत्पन्न होता है। जैसे कीचड़ को अलग करते वक्त कुछ कीचड़ के परमाणु पानी में आकर नीचे बैठ जाते तथा कुछ परमाणु तैरते रहते। ऐसी अवस्था में पानी आंशिक निर्मल तथा आंशिक मलिन रहता है, उसी तरह पारिणामों की निर्मलता से कर्मों के एक देश का क्षय और एक देश का उपशम होना क्षायोपशमिक भाव या मिश्रभाव है।

4. औदयिक भाव : द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव के निमित्त से कर्मों का फल देना उदय है और उदय के निमित्तक भावों को औदयिक भाव कहते हैं।

5. पारिणामिक भाव : जो भाव कर्मों के उपशमादि की अपेक्षा न रखकर जीव द्रव्य के निज स्वरूप मात्र से होते हैं, उन्हे पारिणामिक भाव कहते हैं।

ये पांचों भाव ही आत्मा के स्वरूप हैं। संसारी या मुक्त कोई भी आत्मा हो, उसके सभी पर्याय इन पांच भावों में से किसी न किसी भाव वाले ही होंगे। पांचों भाव सभी जीवों में एक साथ होने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का नियम नहीं है। मुक्त जीवों में दो भाव होते हैं - क्षायिक और पारिणामिक। संसारी जीवों में कोई तीन भाव वाला, कोई चार अथवा कोई पांच भाव वाला होता है, पर दो भाव वाला कोई नहीं होता।

जीव के असाधारण भाव

नाम	**औपशमिक**	**क्षायिक**	**क्षायोपशमिक**	**औदयिक**	**पारिणामिक**
कर्म का	उपशम	क्षय	क्षय और उपशम	उदय	कर्म-निरपेक्ष
संबंधित कर्म	मोहनीय	घाति कर्म	घाति कर्म	आठों कर्म	-
उदाहरण	जल में मैल का नीचे बैठना	जल का पूर्ण शुद्ध होना	जल में कुछ मैल का अभाव और कुछ नीचे बैठना	मलिन जल	सामान्य जल
आत्मा से	श्रद्धा और चारित्र संबंधी भाव मल दबना	अशुद्धता का सर्वथा क्षय	गुणों का आंशिक विकास होना	विभाव रूप परिणमन	जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व होना

द्वि-नवा-ऽष्टादशैकविंशति-त्रि भेदा यथाक्रमम् ।।2।।

सूत्रार्थ : औपशमिक आदि भावों के क्रमशः दो, नौ, अट्ठारह, इक्कीस तथा तीन, इस तरह कुल 53 भेद होते हैं।

विवेचन :

औपशमिक - 2
क्षायिक - 9
क्षायोपशमिक - 18
औदयिक - 21
पारिणामिक - 3
कुल - 53 भेद होते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

औपशमिक भाव के भेद

सम्यक्त्व चारित्रे ।।3।।

सूत्रार्थ : औपशमिक भाव के दो भेद होते हैं - औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र।

विवेचन : दर्शन सप्तक (अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व मोह, मिश्र मोह और सम्यक्त्व मोह) इन कर्म प्रकृतियों के उपशमित (दबाई हुई) होने पर जो सम्यक्त्व होता है वह औपशमिक सम्यक्त्व है।

समस्त मोहनीय कर्म के उपशम से औपशमिक चारित्र प्राप्त होता है इनमें से सम्यक्त्व पद को पहले में रखा है क्योंकि चारित्र सम्यक्त्व पूर्वक ही होता है।

औपशमिक भाव

औपशमिक सम्यक्त्व	**औपशमिक चारित्र**
मोहनीय कर्म की 7 प्रकृतियों के दबने से	मोहनीय कर्म की 28 प्रकृतियों के दबने से

क्षायिक भाव के भेद

ज्ञान-दर्शन-दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणि च ।।4।।

सूत्रार्थ : ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य यह सात तथा 'च' शब्द से संकेतित पूर्व सूत्र में उक्त सम्यक्त्व और चारित्र ये नौ क्षायिक भाव हैं।

विवेचन : क्षायिक भाव सदा ही कर्म के क्षय होने पर होते हैं। इस अपेक्षा से यहाँ ज्ञान, दर्शन आदि के पहले क्षायिक शब्द का उपयोग कर लेना चाहिए। जैसे क्षायिकज्ञान, क्षायिक दर्शन आदि। *क्षायिक ज्ञान और क्षायिक दर्शन को केवलज्ञान और केवलदर्शन भी कहते हैं।*

केवलज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से	-	केवलज्ञान
दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से	-	केवलदर्शन
पांच विध अन्तराय कर्म के क्षय से	-	दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य
दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय से	-	क्षायिक सम्यक्त्व
चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय से	-	क्षायिक चारित्र

इस प्रकार क्षायिक भाव के नौ भेद किये गये है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्षायोपशमिक भाव के भेद

ज्ञान-ऽज्ञान-दर्शन, दानादि-लब्धय श्चतुस्त्रि त्रि पंच भेदा :

यथाक्रमं सम्क्त्व-चारित्र-संयमासंयमाश्च ।।5।।

सूत्रार्थ : क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद है - चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पांच दानादि लब्धियाँ, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम

विवेचन :

क्षायोपशमिक भाव

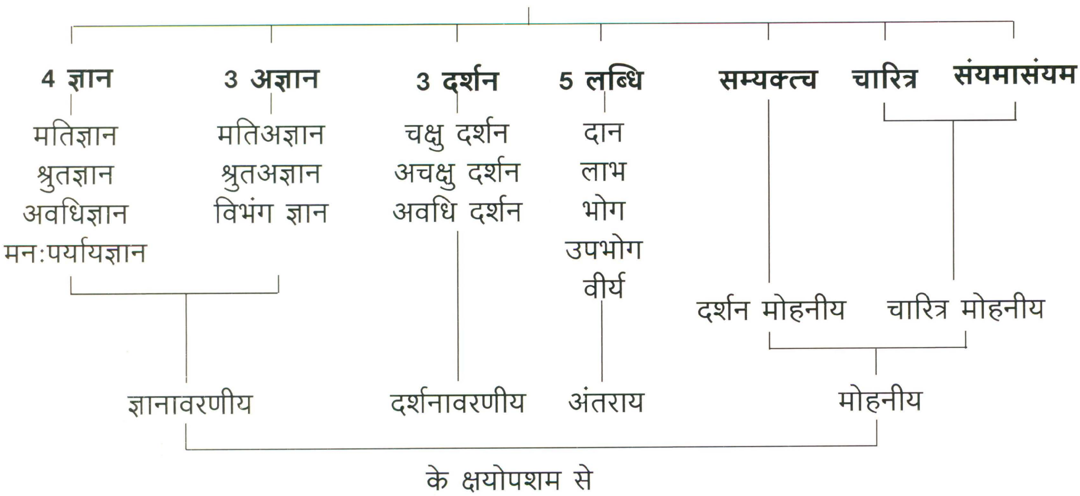

औदयिक भाव के भेद

गति-कषाय-लिंग-मिथ्यादर्शना-ऽज्ञाना-ऽसंयता-ऽसिद्धत्व-लेश्याश्च चतुश्च

चतुस्त्र्येकैकैकेकषड्भेदाः ।।6।।

सूत्रार्थ : औदयिक भाव के इक्कीस भेद होते हैं - चार गति, चार कषाय, तीन लिंग, मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व और छः लेश्या।

विवेचन : कर्मों की जातियाँ और उनके अवान्तर भेद अनेक हैं, इसलिए उनके उदय से होने वाले भाव भी अनेक हैं, पर यहाँ मुख्य-मुख्य औदयिक भाव ही गिनाये गये हैं। ऐसे भाव इक्कीस होते हैं।

Jain Education International

For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

औदयिक भाव के भेद

4	गति	नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव	आयुष्य और नाम कर्म के उदय से
4	कषाय	क्रोध, मान, माया, लोभ	कषाय मोहनीय कर्म के उदय से
3	लिंग (वेद)	स्त्रीलिंग, पुल्लिंग, नपुंसक लिंग स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद	मोहनीय कर्म के उदय से वेद मोहनीय कर्म के उदय से
1	मिथ्यादर्शन		मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से
1	अज्ञान		ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से
1	असंयतत्व	विरति का अभाव	चारित्र मोहनीय
1	असिद्धत्व	शरीर धारण	वेदनीय, नाम, गोत्र, आयुष्य
6	लेश्या (कषायोदय रंजित योग परिणाम)	कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल	कषाय मोहनीय + नाम कर्म
कुल 21			

पारिणामिक भाव के भेद

जीव-भव्या-ऽभव्यत्वादीनि च ।।7।।

सूत्रार्थ : जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन तथा अन्य भी पारिणामिक भाव हैं।

विवेचन : जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व ये तीन भाव स्वाभाविक है अर्थात् न तो वे कर्म के उदय से, न उपशम से, न क्षय से, और न क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं, ये अनादिसिद्ध आत्मद्रव्य के अस्तित्व से ही सिद्ध हैं। इसलिए पारिणामिक हैं।

जीवत्व का अर्थ चैतन्य या जीवित रहना है। जिस परिणाम द्वारा जीव तीनों कालों में सदा जीवित रहता है।

भव्यत्व का अभिप्राय है मोक्ष प्राप्ति की योग्यता अर्थात् जिस परिणाम के द्वारा जीव मोक्ष जाने की योग्यता रखता है।

अभव्यत्व अर्थात् मोक्ष प्राप्ति की अयोग्यता अर्थात् जिस परिणाम के द्वारा जीव मोक्ष नहीं जा सकता।

अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रदेशत्व आदि भी पारिणामिक भाव ही है। पर वे जीव की तरह अजीव में भी होते हैं। इसलिए वे जीव के असाधारण भाव नहीं है।

पारिणामिक भाव

जीवत्व	**भव्यत्व**	**अभव्यत्व**
चैतन्य	मोक्ष प्राप्ति की योग्यता	मोक्ष प्राप्ति की अयोग्यता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीव का लक्षण

उपयोगो लक्षणम् ।।8।।

सूत्रार्थ : जीव का लक्षण उपयोग है।

जिसके द्वारा ज्ञान और दर्शन गुण की प्रवृत्ति होती है, उसे उपयोग कहते है।

उपयोग के भेद

स द्वि विधो-ऽष्ट-चतु-र्भेदः ।।9।।

सूत्रार्थ : वह उपयोग दो प्रकार का हैं - ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग, ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का और दर्शनोपयोग चार प्रकार का हैं।

विवेचन : यहाँ जीव का लक्षण उपयोग बतलाकर उसके भेदों की परिगणना की गयी है। उपयोग के मुख्य दो भेद हैं - ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग ये दोनों उपयोग सब जीवों में पाये जाते हैं। ये दोनों छद्मस्थ में क्रम से होते है और केवलज्ञानियों में युगपत् होते हैं।

ज्ञानोपयोग वस्तु को विशेष रूप से ग्रहण करता है और दर्शनोपयोग वस्तु को सामान्य रूप से ग्रहण करता है। इसलिए ज्ञानोपयोग को साकार और दर्शनोपयोग को निराकार कहते है।

ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का हैं - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, केवलज्ञान, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंगज्ञान।

दर्शनोपयोग चार प्रकार का हैं - चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

उपयोग
(जीव का लक्षण)

- **ज्ञानोपयोग** (विशेष जानना)
  - साकार
    - 5 ज्ञान
    - 3 अज्ञान
- **दर्शनोपयोग** (सामान्य जानना)
  - निराकार
    - चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन

जीव के भेद

संसारिणो मुक्ताश्च ।।10।।

सूत्रार्थ : जीव के दो भेद होते हैं - संसारी और मुक्त।

विवेचन : इस सूत्र में जीव के मुख्य दो भेद कहे गये हैं - संसारी और मुक्त।

संसारी जीव : जो जीव आठ कर्मों के कारण जन्म मरण रूप संसार में नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गतियों में परिभ्रमण करते है, उन्हें संसारी जीव कहते हैं।

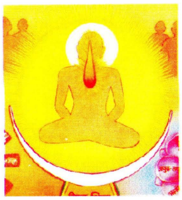

मुक्त : जो जीव आठ कर्मों का क्षय करके, जन्म, मरण, शरीर आदि से रहित, ज्ञान दर्शन रूप अनंत शुद्ध चेतना में रमण करते है वे मुक्त जीव है।

संसारी जीवों के भेद

समनस्का-Sमनस्का: ।।11।।

सूत्रार्थ : संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं - मन सहित और मन रहित।

विवेचन : मन का अर्थ है विचार करना। मन दो प्रकार का होता हैं। 1. द्रव्य मन और 2. भाव मन।

जिससे विचार किया जा सके वह आत्मिक शक्ति भाव मन है और इस शक्ति से विचार करने में सहायक होनेवाले एक प्रकार के सूक्ष्म वर्गणा द्रव्य मन है।

सभी जीवों में भाव मन रहता ही है पर द्रव्य मन नही। अर्थात् जैसे अत्यन्त वयोवृद्ध मनुष्य पाँव और चलने की शक्ति होने पर भी लकड़ी के सहारे के बिना नहीं चल सकता वैसे ही भाव मन होने पर भी द्रव्य मन के बिना स्पष्ट विचार नहीं किया जा सकता। इसी कारण द्रव्य मन की प्रधानता मानकर उसके भाव और अभाव की अपेक्षा से मन सहित और मन रहित विभाग किये गये हैं।

मन सहित जीवों को संज्ञी कहते हैं और मन रहित जीवों को असंज्ञी कहते है।

जीव

- **संसारी** (आठ कर्मों से युक्त)
  - मन सहित (संज्ञी)
  - मन रहित (असंज्ञी)
- **मुक्त** (आठ कर्मों से रहित)

Jain Education International
For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

संसारिणत्रस-स्थावराः ||12||

सूत्रार्थ : पुनः संसारी जीवों के दो भेद हैं - त्रस और स्थावर

विवेचन : स्थावर नाम कर्म के उदय से जो जीव एक स्थान पर स्थिर रहते हैं, गमनागमन नहीं कर सकते तथा किसी भी कायिक चेष्टा अथवा संकेत द्वारा सुख-दुख इच्छा आदि को स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं कर पाते वे स्थावर जीव कहलाते हैं।

त्रस : त्रस नाम कर्म के उदय से जो जीव गतिमान है। अपने हित की प्राप्ति और अहित निवृत्ति के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान जा सकते हैं तथा सुख-दुख इच्छा आदि को अभिव्यक्त कर सकते हैं वे त्रस कहलाते हैं।

पृथिव्यम्बु-वनस्पतयःस्थावराः ||13||

सूत्रार्थ : पृथ्वीकाय, अपकाय, वनस्पतिकाय - ये तीन स्थावर जीव हैं।

तेजो-वायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः ||14||

सूत्रार्थ : तेउकाय, वायुकाय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रय तथा पंचेन्द्रिय त्रस जीव होते हैं।

विवेचन : प्रस्तुत सूत्र में पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय को स्थावर जीव कहा गया है और तेउकाय, वायुकाय तथा बेइन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों को त्रस कहा गया है।

तेउकाय और वायुकाय जीव वास्तव में स्थावर ही हैं। स्थावर नाम कर्म का उदय होने पर भी उनकी त्रस जैसी गति होने के कारण वे गति त्रस कहलाते हैं। वे उपचार मात्र से त्रस हैं। त्रस दो प्रकार के हैं - लब्धि त्रस और गति त्रस। त्रस नाम कर्म के उदय से बेइन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीव लब्धि त्रस है, ये ही मुख्य त्रस हैं।

1. पृथ्वीकाय : जिनका शरीर ही पृथ्वी है, वे पृथ्वीकाय जीव हैं। जैसे मिट्टी, नमक, खार, सोना, चाँदी आदि। पृथ्वीकाय आदि में कितने जीव है यह रूपक के द्वारा संबोध प्रकरण में इस प्रकार बताया है।

एक हरे आँवले के समान मिट्टी के गोले में पृथ्वीकाय के इतने जीव हैं कि यदि उन सब में से प्रत्येक का शरीर कबूतर के समान बड़ा किया जाय तो वे एक लाख योजन के जम्बूद्वीप में नहीं समा सकते हैं।

2. अप्काय : जिन एकेन्द्रिय जीवों का शरीर ही जल या पानी है, वे जीव अप्काय के जीव हैं जैसे : कुआँ, तालाब, नदी आदि का पानी, वर्षा आदि आकाश का पानी, बर्फ, ओस आदि। आधुनिक विज्ञान ने शुद्ध जल की एक बूंद में 36450 चलते फिरते

Jain Education International
For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

जीव शक्तिशाली दूरवीक्षण यन्त्र से देख है। ये सभी जीव त्रस कायिक है, जल तो सिर्फ उनका आश्रयस्थल है। वहीं भगवान महावीर स्वामी ने अपने केवलज्ञान रूपी दूरबीन से पानी की एक बूंद में असंख्य जीव देखे है। उस एक बूंद के पानी के जीवों का शरीर सरसों के दाने के समान किया जाय तो जम्बूद्वीप में नहीं समा सकते।

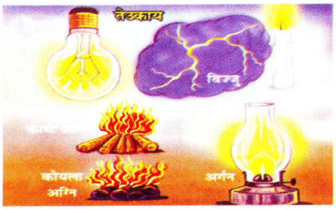

3. **तेउकाय** : जिन स्थावर जीवों का शरीर अग्नि है वे तेउकाय जीव है। जैसे अंगार, बिजली भट्टी आदि। एक नन्हीं सी चिनगारी के जीवों को लीख के समान बनाया जाय तो जम्बूद्वीप में नहीं समाते।

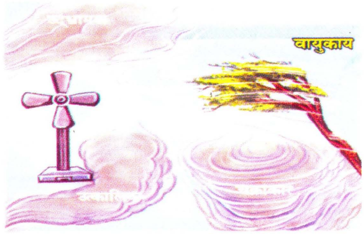

4. **वायुकाय** : जिस स्थावर जीवों का शरीर ही वायु (हवा) है, वे वायुकाय जीव हैं। इन जीवों के उदाहरण है - उद्भ्रामक अर्थात् ऊँची घूमती वायु उत्कालिक वायु अर्थात् नीचे भूमि को स्पर्श करती हुई वायु, गोलाकार घूमती हवा, आँधी, महावात आदि। नीम के पत्ते के छूने वाली हवा में इतने जीव है कि उन सभी जीवों के शरीर को खस-खस के दाने के समान बनाया जाय तो वे जम्बूद्वीप में नहीं समा सकते।

5. **वनस्पतिकाय** : जिन स्थावर जीवों का शरीर ही वनस्पति है, वे वनस्पति जीव कहलाते है। वनस्पतिकाय के 2 भेद हैं - प्रत्येक और साधारण।

a) प्रत्येक वनस्पतिकाय : जिनके एक शरीर में एक जीव हो वे प्रत्येक वनस्पतिकाय कहलाते हैं। फल, फूल, छाल, मूल, पत्ते बीज आदि। भिंडी, आम, सेब, आदि में जितने बीज है उतने जीव।

b) साधारण वनस्पतिकाय : जिनके एक शरीर में अनंत जीव हो वे साधारण वनस्पतिकाय कहलाते है। भूमि के भीतर पैदा होनेवाले सर्व प्रकार के कंद, बीज से निकलते हुए अंकुर, पांच रंग की नील फूल, काई जो जल के उपर छाई रहती है, भूमि विस्फोट सफेद रंग की छत्राकार वनस्पति, अदरक, गाजर, छोटी मोगरी, पालक की भाजी आदि।

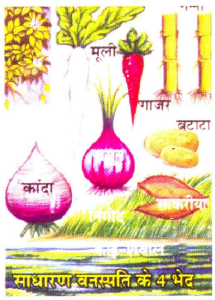

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्येक और साधारण वनस्पतिकाय में अंतर

प्रत्येक वनस्पतिकाय	साधारण वनस्पतिकाय
1. एक शरीर में एक जीव।	एक शरीर में अनंत जीव।
2. बादर जीव।	सूक्ष्म और बादर दोनों जीव।
3. सूर्य का प्रकाश पड़ता है अत: नुकसान दायक नहीं है।	सूर्य का प्रकाश नहीं पड़ता है अत: रोग का कारण है।
4. फल या फुल गिरने या तोड़ने पर किसी अन्य फल, फूल डाल आदि को कोई नुकसान नहीं होता है।	एक आलू या गाजर लेने पर पूरे पौधे को उखाडना पड़ता है।
5. भूमि उपजाऊ रह सकती है।	कुछ समय बाद भूमि बंजर बन जाती है।
6. इसके कारण हम ऑक्सीजन लेते है।	पौधे आदि न रहने के कारण ऑक्सीजन (Oxygen) नहीं रहता।

बेइन्द्रिय : जिन जीवों को स्पर्श (शरीर) और रस (जीभ) यह दो इन्द्रियाँ होती है, वे बेइन्द्रिय जीव कहलाते हैं। जैसे कृमि, शंख, सीप आदि।

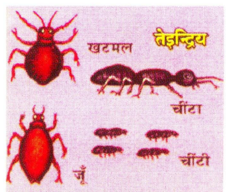

तेइन्द्रिय : जिन जीवों को स्पर्श, रस और घ्राण (नाक) यह तीन इन्द्रियाँ होती हैं वे जीव तेइन्द्रिय कहलाते हैं। जैसे चींटी, जूं, खटमल आदि।

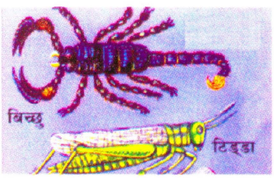

चउरिन्द्रिय : जिन जीवों को स्पर्श, रस, घ्राण और चक्षु (आंख) ये चार इन्द्रियाँ होती हैं वे जीव चउरिन्द्रिय कहलाते हैं। जैसे बिच्छु, मक्खी, भंवरा, मच्छर आदि।

पंचेन्द्रिय : जिन जीवों को स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु और श्रोत (कान) ये पांच इन्द्रियाँ होती हैं वे पंचेन्द्रिय कहलाते हैं। जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी, देव तथा नारक।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवों के भेद

- **संसारी (कर्म सहित)**
  - **त्रस** (चल-फिर सकते)
    - **बेइन्द्रिय** — दो इन्द्रियाँ (स्पर्श, रस) — कृमि आदि
    - **तेइन्द्रिय** — तीन इन्द्रियाँ (स्पर्श, रस, घ्राण) — चींटी आदि
    - **चउरिन्द्रिय** — चार इन्द्रियाँ (स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु) — भंवरा आदि
    - **पंचेन्द्रिय** — पांच इन्द्रियों (स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु और श्रोत) — मनुष्य, पशु, पक्षी, देव तथा नारक
  - **स्थावर** (चल फिर नहीं सकते या स्थिर रहते हैं)
- **मुक्त (कर्म रहित)**
  - (सिद्धात्मा)

स्थावर

- **पृथ्वीकाय** (पृथ्वी) — सोना, नमक खार आदि
- **अप्काय** (पानी) — बर्फ, ओस आदि
- **तेउकाय** (अग्नि) — अंगार, बिजली आदि
- **वायुकाय** (हवा) — आंधी, तूफान आदि
- **वनस्पति**
  - **प्रत्येक** (एक शरीर में एक जीव) — आम, पपीता, केला, भिंडी आदि
  - **साधारण** (एक शरीर में अनंत जीव) — आलू, गाजर, प्याज आदि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रियों की संख्या

पंचेन्द्रियाणि ।।15।।

सूत्रार्थ : इन्द्रियाँ पांच प्रकार की होती हैं।

विवेचन : जिससे हमें बाह्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त हो, उसे इन्द्रिय कहते हैं। जीव के कितने भी विभाग हो सकते हैं लेकिन इन्द्रियाँ पांच से अधिक नहीं हो सकती हैं।

द्विविधानि ।।16।।

सूत्रार्थ : ये पाँचों इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं।

विवेचन : ये सभी (पांचों) इन्द्रियाँ दो-दो प्रकार की होती हैं - द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय।

द्रव्येन्द्रिय : इन्द्रिय की पौदगलिक आकार रचना। नाक, कान, रसना, चक्षु और त्वचा की बाहरी और भीतरी आकार विशेष पौद्गलिक रचना को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

भावेन्द्रिय : आत्मा के परिणाम विशेष (जानने की योग्यता और प्रवृत्ति) को भावेन्द्रिय कहते हैं।

निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ।।17।।

सूत्रार्थ : द्रव्येन्द्रिय के दो प्रकार है - निर्वृत्ति और उपकरण।

विवेचन : इस सूत्र में द्रव्येन्द्रिय के दो भेद बताये गये हैं। a. निर्वृत्ति और b. उपकरण।

निर्वृत्ति : निर्वृत्ति का अर्थ है रचना। शरीर पर दिखने वाली इन्द्रियाँ सम्बन्धी पुद्गलों की विशिष्ट रचना के रूप में जो आकृतियाँ है, वह निर्वृत्ति इन्द्रिय है।

उपकरण : निर्वृत्ति इन्द्रिय में स्वच्छ पुद्गलों से बनी हुई और अपने विषय ग्रहण करने में उपकारक जो पौद्गलिक शक्ति होती है - जिसके द्वारा शब्दादि विषयों का ग्रहण होता है। उसे उपकरण इन्द्रिय कहते हैं। यह बाह्य ज्ञान में सहायक होता है, तथा निर्वृत्त रूप रचना को हानि नहीं पहुँचने देता है।

निर्वृत्ति और उपकरण दोनों दो-दो भेद होते हैं - a. आन्तरिक और b. बाह्य।

उदाहरण के लिए चक्षुइन्द्रियावरण के क्षयोपशम से आत्म प्रदेशों का चक्षु आदि के आकार रूप होना, आंतरिक या आभ्यंतर निर्वृत्ति है तथा नाम कर्म के उदय से शरीर पुद्गलों की इन्द्रियों के आकार रूप से रचना होना बाह्य निर्वृत्ति है। आँख में जो काली पुतली (Retina) तथा इसके चारों ओर सफेद है वह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आन्तरिक उपकरण है तथा पलक आदि बाह्य उपकरण है।

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ।।18।।

सूत्रार्थ : भावेन्द्रिय के दो प्रकार हैं - लब्धि और उपयोग

उपयोगः स्पर्शादिषु ।।19।।

सूत्रार्थ : उपयोग स्पर्शादि विषयों में होता है।

विवेचन : भावेन्द्रिय के दो भेद हैं - लब्धि भावेन्द्रिय और उपयोग भावेन्द्रिय।

लब्धि : ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने पर स्पर्श आदि विषयों को जानने की जो शक्ति है, वह लब्धि भावेन्द्रिय है।

उपयोग भावेन्द्रिय : लब्धि, निर्वृत्ति तथा उपकरण इन तीनों के मिलने से जो रूपादि विषयों का सामान्य और विशेष बोध होता है वह उपयोग भावेन्द्रिय हैं।

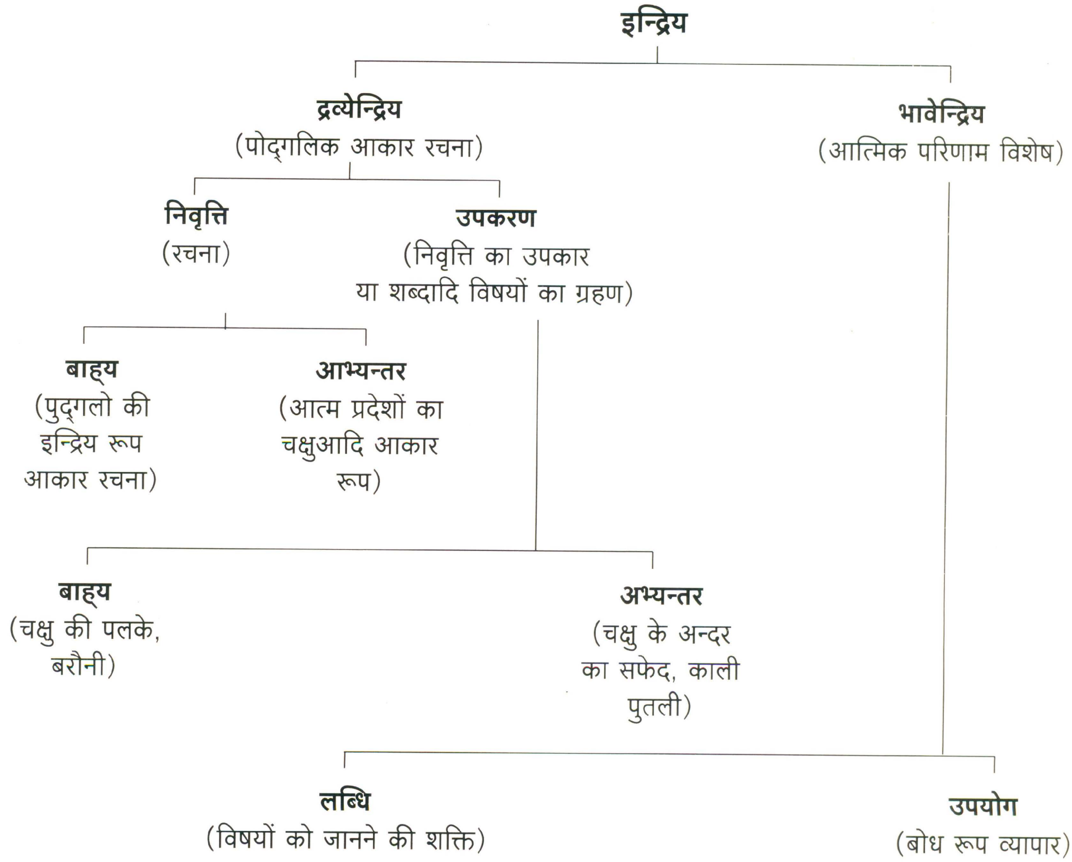

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रियों के भेद व विषय

स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्राणि ॥20॥

सूत्रार्थ : स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रियाँ हैं ।

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दास्तेषाम् अर्थाः ॥21॥

सूत्रार्थ : स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द - ये क्रमशः इन विषयों को ग्रहण करती हैं।

विवेचन : प्रस्तुत दो सूत्रों में पांच इन्द्रियों के नाम तथा उनके विषय बताये गये हैं।

इन्द्रिय के नाम और उनके विषय

1. **स्पर्शनेन्द्रिय :** जिससे स्पर्श का ज्ञान होता है, वह स्पर्शनेन्द्रिय अर्थात् त्वचा है।

2. **रसनेन्द्रिय :** जिस इन्द्रिय से रस का ज्ञान होता है, वह रसनेन्द्रिय अर्थात् जीभ है।

3. **घ्राणेन्द्रिय :** जिस इन्द्रिय से गंध का ज्ञान होता है, वह घ्राणेन्द्रिय अर्थात् नाक है।

4. **चक्षुरीन्द्रिय :** जिस इन्द्रिय से रूप का ज्ञान होता है वह चक्षुरीन्द्रिय अर्थात् आँख है।

5. **श्रोत्रेन्द्रिय :** जिस इन्द्रिय से शब्द का ज्ञान होता है वह श्रोतेन्द्रिय अर्थात् कान है।

यद्यपि सूत्र में पांच इन्द्रियों के पांच ही विषय बताये हैं, किन्तु विस्तार की अपेक्षा इन पांच इन्द्रियों के 23 विषय होते हैं। वह इस प्रकार है -

स्पर्शन के 8 विषय : शीत, उष्ण, रूखा, चिकना, कठोर, कोमल, हल्का और भारी।

रस के 5 विषय : तीखा, कडवा, कसैला, खट्टा और मीठा।

घ्राण के 2 विषय : सुगन्ध और दुर्गन्ध।

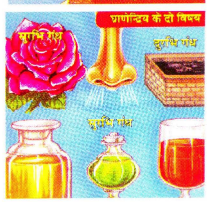

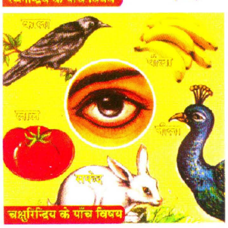

चक्षु के 5 विषय : श्वेत, लाल, पीला, नीला (हरा) और काला

श्रोत के 3 विषय : जीव शब्द, अजीव शब्द और मिश्र शब्द।

इस प्रकार, यह पांचों इन्द्रियाँ अपने-अपने ही विषय को ग्रहण करती हैं।

श्रुत-मनिन्द्रियस्य ||22||

सूत्रार्थ : श्रुत मन का विषय है।

विवेचन : यहाँ श्रुत शब्द का अर्थ श्रुतज्ञान किया है और अनिन्द्रिय का अर्थ मन का विषय है। पांच इन्द्रियों के अतिरिक्त मन भी एक इन्द्रिय है। मन ज्ञान का साधन तो है पर स्पर्शन आदि इन्द्रियों की तरह बाह्य साधन नहीं है। वह आन्तरिक साधन है। मन का विषय परिमित नहीं है। बाह्य इन्द्रियाँ केवल मूर्त पदार्थ को और वह भी अंश रूप से ग्रहण करती है, जबकि मन मूर्त-अमूर्त सभी पदार्थों को अनेक रूपों में ग्रहण करता है। मन का कार्य विचार करना है, जिसमें इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये गये और न ग्रहण किए गये, विकास की योग्यता के अनुसार सभी विषय आते हैं। यह विचार ही श्रुत है। उदाहरण के लिए धर्म शब्द कानों में पड़ा, अब धर्म के जितने भी अर्थ और रूप है, वे एकदम मस्तिष्क में आ गये, श्रुतधर्म, चारित्रधर्म, मानवधर्म आदि यह सम्पूर्ण मनन क्रिया मन के द्वारा हुई। इस अपेक्षा से श्रुत को मन का विषय बताया है।

वाय्वन्तानामेकम् ||23||

सूत्रार्थ : वायुकाय पर्यन्त जीवों की एक इन्द्रियाँ ही होती है।

विवेचन : पृथ्वीकाय, अप्काय, वनस्पतिकाय, तेउकाय और वायुकाय से सब जीवों में मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है, इसलिए ये सभी एकेन्द्रिय जीव कहलाते हैं।

कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-मनुष्यादीनामेकैक-वृद्धानि ||24||

सूत्रार्थ : कृमि, चींटी, भंवरा और मनुष्य आदि की क्रमशः एक-एक इन्द्रिय अधिक होती है।

सूत्र 14 में इनका विवेचन हो गया है।

संज्ञी और असंज्ञी की विचारणा

संज्ञिनः समनस्काः ||25||

सूत्रार्थ : मन वाले जीव संज्ञी होते हैं।

विवेचन : यह हित है और यह अहित इस प्रकार के गुण-दोष विचार को संज्ञा कहते हैं। प्रायः एकेन्द्रिय आदि प्रत्येक जीव अपने इष्ट विषय में प्रवृत्ति करता है और अनिष्ट विषय से निवृत्त होता है, फिर भी मन की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की गयी है अतः इसका कारण यह है कि तुलनात्मक अध्ययन, लोक-परलोक का विचार, हिताहित का विवेक आदि कार्य ऐसे है जो मन के बिना नहीं हो सकते हैं। इस कारण मन की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की गयी है। यह मन जिनको होता है, वे संज्ञी होते है अन्य नहीं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवों का संज्ञी और असंज्ञी यह भेद पंचेन्द्रिय जीवों में ही पाया जाता है। अन्य एकेन्द्रिय से लेकर चउरिन्द्रिय तक के जीव तो असंज्ञी ही होते हैं।

विग्रहगति सम्बन्धी विचारणा

विग्रहगतौ कर्म योगः ।।26।।

सूत्रार्थ : विग्रहगति में कार्मण योग रहता है।

विवेचन : विग्रह का अर्थ शरीर या देह है। विग्रह अर्थात् शरीर के लिए जो गति होती है । एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर की प्राप्ति के लिए गमन करना विग्रह गति है।

विग्रहगति में जीव के कार्मणकाययोग रहता है। क्योंकि मनुष्य और तिर्यंच की अपेक्षा औदारिक शरीर, देव नारकियों की अपेक्षा वैक्रिय शरीर आयु पूरी होते ही छूट जाता है। यहाँ कार्मण शरीर और कार्मणयोग का भेद समझ ले।

कार्मण शरीर : कर्मों के समूह को कार्मण शरीर कहते हैं।

योग : आत्म प्रदेशों के परिस्पन्दन।

कार्मण शरीर तो जीव के साथ संलग्न रहता ही है, वह अपनी योग शक्ति से कार्मण शरीर को कार्मण काययोग में परिणत कर लेता है क्योंकि एक स्थान से दूसरे स्थान को गमन करने के लिए योग शक्ति अपेक्षित होती है।

अनुश्रेणि गतिः ।।27।।

सूत्रार्थ : गति, श्रेणि के अनुसार होती है।

विवेचन : आकाश में जीव और पुद्गल की गति, श्रेणि (सरल रेख) के अनुसार होती है। लोक के मध्य से लेकर ऊपर नीचे और तिरछे आकाश के प्रदेश क्रमशः श्रेणि बद्ध अर्थात् सीधे होते हैं। मरण के समय जब जीव एक भव को छोड़कर दूसरे भव के लिए गमन करते हैं और मुक्त जीव जब उर्ध्व गमन करते हैं तब उनकी गति सीधी ही होती हैं। जब कोई उर्ध्वलोक से अधोलोक व अधोलोक से ऊर्ध्वलोक या तिर्यंग लोक से अधोलोक या ऊर्ध्वलोक आता जाता है तब उस अवस्था में उसकी गति अनुश्रेणी अर्थात् सीधी होती है।

अविग्रहा जीवस्य ।।28।।

सूत्रार्थ : मुक्त जीव की गति विग्रहरहित होती है।

विवेचन : अविग्रहा अर्थात् बिना मोड़ वाली गति। गति दो प्रकार की होती हैं - 1. ऋजु अर्थात् सरल या सीधी 2. वक्र अर्थात् कुटिल या मोड़ वाली। जिस स्थान पर सिद्ध जीव अपना शरीर

छोडते हैं, वही से वे सीधे ऋजुगति से गमन करके सिद्धशिला के ऊपर एक समय में विराजमान हो जाते हैं।

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ||29||

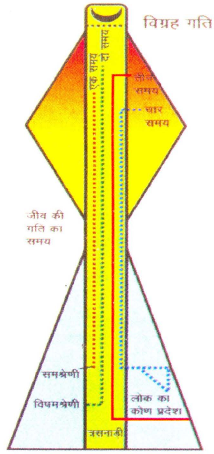

सूत्रार्थ : संसारी जीव की गति विग्रहरहित और विग्रह सहित होती है। उसमें विग्रहवाली गति चार समय से पहले अर्थात् तीन समय तक होती हैं।

विवेचन : अन्तराल (विग्रहगति) का काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट चार समय हैं। जब ऋजुगति हो तब एक ही समय और जब वक्रगति हो तब दो, तीन या चार समय समझना चाहिए। समय की संख्या मोड़ या घुमाव पर आधारित है। यदि गति मोड़ रहित होती है तो एक समय लगता है। एक मोड हो तो 2 समय, दो मोड़ हो तो 3 समय, और 3 मोड़ हो तो 4 समय लगते हैं। जीव चौथे समय में तो कही न कही नया शरीर नियम से धारण कर लेता है।

एक समयोऽविग्रहः ||30||

सूत्रार्थ : एक समयवाली गति विग्रहरहित होती है।

विवेचन : बिना मोड वाली ऋजुगति एक समय वाली होती है।

एकं द्वौ वा-ऽनाहारकः ||31||

सूत्रार्थ : विग्रहगति में जीव एक या दो समय तक अनाहारी रहता है।

विवेचन : मुक्त जीव के लिए तो अन्तराल गति में आहार का प्रश्न ही नहीं रहता, क्योंकि वह सूक्ष्म और स्थूल सब शरीरों से मुक्त है परन्तु संसारी जीव के लिये आहार का प्रश्न है क्योंकि उसके अन्तराल गति में भी सूक्ष्म शरीर होता ही है। आहार का अर्थ है औदारिक, वैक्रिय, आहारक तथा छ पर्याप्तियों के योग्य पुद्‌गलों को ग्रहण करना। ऋजुगति से या दो समय की एक विग्रह वाली गति से जाने वाले अनाहारक नहीं होते क्योंकि वे जिस समय में पूर्व शरीर छोड़ते हैं, उसी समय नया स्थान प्राप्त कर लेते हैं। उस समय वे पूर्व भव या नये भव में आहार ले लेते हैं। यही स्थिति एक मोड़ वाली गति की है, क्योंकि इसके दो समयों में से पहला समय पूर्व शरीर के द्वारा ग्रहण किये गये आहार का है, और दूसरा समय नये उत्पत्ति स्थान में पहुँचने का है। जिसमें आहार लिया जाता है। तीन समय की दो मोड़ वाली तथा चार समय की तीन मोड वाली गति में अनाहारक स्थिति बनती है अर्थात् आहार ग्रहण नहीं करता है। अतएव दो मोड़वाली गति में एक समय और तीन मोड़वाली गति में दो समय तक जीव अनाहारक रहता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

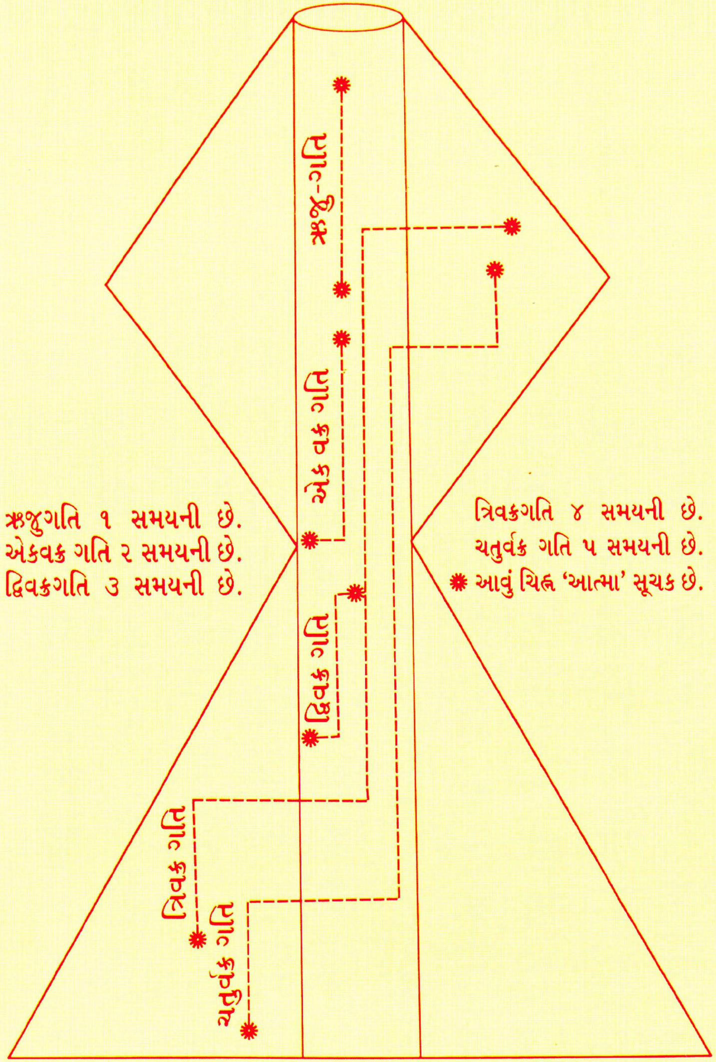

વક્રગતિમાં આહાર-અનાહારદર્શક ચિત્ર

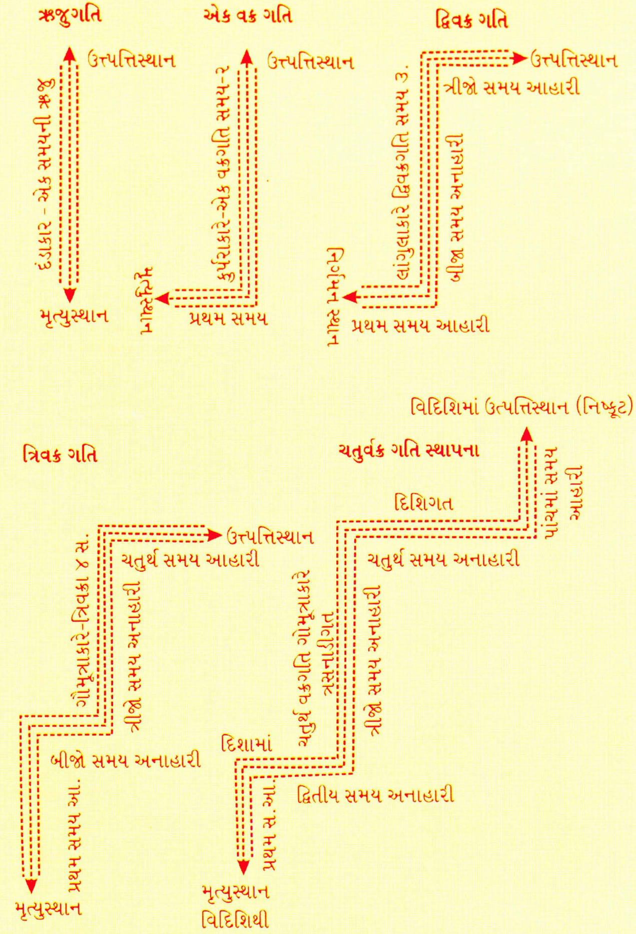

विग्रहगति

(एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर की प्राप्ति के लिए गमन)

- **मुक्त**
  - ऋजु
  - सरल
  - एक समय
  - अनाहारक
- **संसारी**
  - ऋजु-वक्र
  - सरल और मोड़
  - एक समय
  - आहारक
  - दो समय
    - एक मोड़
    - आहारक
  - तीन समय
    - दो मोड़
    - अनाहारक
  - चार समय
    - तीन मोड़
    - अनाहारक

जन्म के प्रकार

सम्मूर्छन-गर्भोपपाता जन्म ||32||

सूत्रार्थ : सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपात ये जन्म के तीन प्रकार।

विवेचन : इस सूत्र के जन्म के तीन प्रकार बताये गये हैं।

a) सम्मूर्च्छन : माता-पिता के सम्बन्ध के बिना ही जब जीव अपने उत्पत्ति स्थान के सभी ओर से विद्यमान शरीर योग्य औदारिक पुद्‌गलों को ग्रहण करके अपने शरीर का निर्माण करता है, उसे सम्मूर्च्छन जन्म कहा जाता है। एकेन्द्रिय से चउरिन्द्रिय तक के सभी जीवों का सम्मूर्च्छन जन्म होता है।

b) गर्भज : स्त्री के गर्भाशय में शुक्र और शोणित (वीर्य और रज) औदारिक पुद्‌गलों को जीव जब अपने शरीर रूप परिणत करता है उसे गर्भज जन्म कहा जाता है।

c) उपपात : जब जीव अपने उत्पत्ति स्थान की सर्व दिशाओं में विद्यमान वैक्रिय पुद्‌गलों को ग्रहण करके उनसे अपने शरीर का निर्माण करे उसे उपपात जन्म कहते हैं। यह जन्म देव और नारकियों का होता हैं।

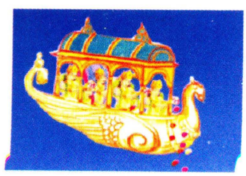

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जन्म
(नवीन शरीर को धारण करना)

सम्मूर्च्छन (माता पिता के संयोग के बिना सभी ओर से औदारिक पुद्गलों के ग्रहण से)

गर्भज (माता पिता के रज और वीर्य से)

उपपात (सभी दिशाओं से वैक्रिय पुद्गल के ग्रहण)

योनियों के प्रकार

सचित्त-शीत-संवृताःसेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ||33||

सूत्रार्थ : योनियाँ नौ प्रकार की है। सचित, शीत और संवृत तथा इनकी प्रतिपक्षभूत, अचित, उष्ण और विवृत तथा मिश्र अर्थात् सचिताचित, शीतोष्ण और संवृतविवृत।

विवेचन : जीव के उत्पत्ति स्थान को योनि कहते है। जिस स्थान में पहले पहल स्थूल शरीर के लिए ग्रहण किये गये पुद्गल कार्मण शरीर के साथ गरम लोहे में पानी की तरह मिल जाते है, उसको योनि कहते है। योनियों नौ प्रकार की हैं -

1. **सचित्त :** जीव सहित योनि। मनुष्य या अन्य प्राणी के पेट में जीव उत्पन्न होते है उनकी सचित योनि है।

2. **अचित्त :** जीव रहित। दीवार, कुर्सी आदि में जीव उत्पन्न होते है उनकी योनि अचित कहलाती है।

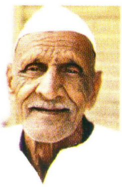

3. **सचित्ताचित :** योनि का कुछ भाग जीव सहित और कुछ भाग जीव रहित। मनुष्य की पहनी हुई टोपी इत्यादि में जीव उत्पन्न।

4. **शीत :** शीत (ठंडा) स्पर्श वाली। सर्दी में जीव उत्पन्न हो।

5. **उष्ण :** गरम स्पर्श वाली। गर्मी में जीव उत्पन्न हो।

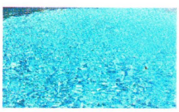

6. **शीतोष्ण :** योनि का कुछ भाग शीत स्पर्श और कुछ भाग उष्ण स्पर्श वाला हो। जैसे पानी के खड्डे में सूर्य की गर्मी से पानी के गर्म हो जाने पर जो जीव उत्पन्न हो जाते हैं।

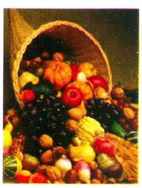

7. **संवृत :** ढकी हुई या दबी हुई यानि। बन्द पेटी में रखे हुए फलों में जो जीव उत्पन्न है।

8. **विवृत :** खुली हुई योनि। पानी में जो काई इत्यादि जीव।

Jain Education International

For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

9. संवृतविवृत : योनि का कुछ भाग ढका हुआ और कुछ भाग खुला हुआ हो। ऐसे स्थान में उत्पन्न होनेवाले जीवों की संवृतविवृत योनि है।

गर्भज जन्म

जराय्वण्ड-पोतजानां गर्भः ।।34।।

सूत्रार्थ : जरायुज, अण्डज और पोतज जीवों का गर्भ में जन्म होता है।

विवेचन : प्रस्तुत सूत्र में गर्भज जीवों के भेद बताये हैं।

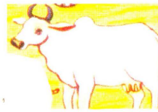

a. **जरायुज :** जो जीव जाल (झिल्ली) के समान रक्त और मांस से भरी एक प्रकार की थैली से लिपटे हुए पैदा होते हैं, उन्हें जरायुज कहते हैं। जैसे मनुष्य, गाय, भैंस आदि जीव।

b. **अण्डज :** जो जीव अण्डे से पैदा होते हैं, वे अण्डज कहलाते हैं। जैसे मुर्गी, सांप, चिड़िया आदि।

c. **पोतज :** जो जीव किसी भी प्रकार के आवरण में लिपटे बिना पैदा होते है उन्हें पोतज कहते हैं। जैसे हाथी, नेवला, चूहा आदि। ये जीव माता के गर्भ से निकलते ही चलने फिरने लगते हैं।

उपपात जन्म

नारकदेवाना-मुपपातः ।।35।।

सूत्रार्थ : नारकियों और देवों का उपपात जन्म होता है। इसका विवेचन सूत्र 32 में किया गया है।

सम्मूर्च्छन जन्म

शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ।।36।।

सूत्रार्थ : शेष जीवों का सम्मूर्च्छन जन्म होता है।

विवेचन : गर्भज और उपपात जन्म वालों के अतिरिक्त सभी संसारी जीव सम्मूर्च्छम होते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चउरिन्द्रिय तक तथा कुछ तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य भी सम्मूर्च्छिम होते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जन्म
(नवीन शरीर को धारण करना)

गर्भज
(माता पिता के रज और वीर्य से)

उपपात
(सभी दिशाओं से वैक्रिय पुद्‌गल के ग्रहण से)

सम्मूर्च्छन
(माता पिता के संयोग के बिना सभी ओर से औदारिक पुद्‌गलों के ग्रहण से)

जरायुज
(रक्त और मांस के जाल से लिपटा हुआ पैदा होते हैं)
मनुष्य, गाय, भैंस आदि

अण्डज
(अंडे से पैदा होते हैं)
मुर्गी, सांप, चिड़ियाँ आदि

पोतज
(रक्त और मांस की जाल के बिना आवरण पैदा होते हैं)
हाथी, सिंह, चूहा आदि

नारकी
कुम्भी

देव
पुष्प शय्या

एकेन्द्रिय से लेकर चउरिन्द्रिय, कुछ तिर्यंच पंचेन्द्रिय, और कुछ अपर्याप्ता मनुष्य

शरीर के प्रकार

औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मणानि शरीराणि ।।37।।

सूत्रार्थ : औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण - ये शरीर के पांच प्रकार है।

विवेचन : इस सूत्र में शरीर के पांच प्रकार बताये गये हैं -

a. **औदारिक शरीर** : उदार अर्थात् स्थूल या प्रधान। स्थूल पुद्‌गलों से अथवा तीर्थंकरादि की अपेक्षा से प्रधान श्रेष्ठ पुद्‌गलों से बना हुआ शरीर औदारिक कहा जाता है। जो शरीर सड़न-गलन स्वभाव वाला है, जिसका छेदन-भेदन किया जा सकता है, जिसमें रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि आदि हो, वह औदारिक शरीर है।

b. **वैक्रिय शरीर** : विक्रिया अर्थात् विविध क्रियाएँ करनेवाला शरीर। जो शरीर कभी छोटा, कभी बड़ा, कभी पतला, कभी मोटा, कभी एक, कभी अनेक आदि रूपों में

परिवर्तित किया जा सकता है, जो इच्छानुसार रूपों में बदला जा सकता है, वह वैक्रिय शरीर है। इसमें रक्त, मांस आदि नहीं होते हैं। सड़न-गलन आदि धर्म नहीं होते, यह विशिष्ट प्रकार की प्रक्रिया द्वारा विविध रूपों में स्थूल और सूक्ष्म पुद्गलों से निर्मित होता है।

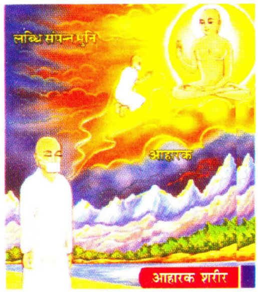

c. **आहारक शरीर -** शुभ (प्रशस्त पुद्गल जन्म), विशुद्ध (निर्दोष कार्यकारी, और व्याघात (बाधा) रहित शरीर जो चौदह पूर्वधारी मुनिराज अपनी विशिष्ट लब्धि के द्वारा निर्मित करते हैं, वह आहारक शरीर कहलाता है अथवा तीर्थंकर परमात्मा की ऋद्धि देखने के लिए, विशिष्ट ज्ञान के लिए अपने संशय का निराकरण करने के लिए चौदह पूर्वधारी जिस शरीर का निर्माण करते है वह आहारक शरीर हैं। ऐसे शरीर से वे अन्य क्षेत्र में स्थित सर्वज्ञ के पास पहुँचकर उनके संदेह का निवारण कर फिर अपने स्थान में पहुँच जाते हैं।

d. **तैजस् शरीर :** जो शरीर तेजोमय होने से खाये हुए आहार आदि को पचानेवाला हो तथा शरीर को कांति देनेवाला हो, वह तैजस शरीर है। जिस प्रकार कृषक खेत को क्यारों में अलग-अलग पानी पहुँचाता है, इसी तरह यह शरीर ग्रहण किये हुए आहार आदि को विविध रसादि में परिणत करके अवयव-अवयव में पहुँचाता है। सभी संसारी जीवों को यह शरीर होता है।

e. **कार्मण शरीर :** कर्म समूह ही कार्मण शरीर है। आत्मा के साथ लगे हुए कर्मसमुदाय को कार्मण शरीर कहा जाता है। यह अन्य सब शरीरों की जड़ है क्योंकि कर्म के कारण ही शरीर की रचना होती है।

शरीर

औदारिक	वैक्रिय	आहारक	तैजस	कार्मण
सड़न-गलन स्वभाव वाला, रक्त, मांस, अस्थि आदि हो	विविध क्रियाएं करने वाला या कभी छोटा, बड़ा, पतला आदि रूपों को धारण करने वाला	चौदह पूर्वधारी अपनी विशिष्ट लब्धि के द्वारा अपने शंका का समाधान के लिए निमित्त करते है	खाये हुए आहारादि पचानेवाला तथा तीनों शरीर को कांति देने वाला	कर्म समूह
मनुष्य और तिर्यंच	देव और नारकी	चौदह पूर्वधारी	सभी संसारी जीव	सभी संसारी जीव

Jain Education International
For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

शरीर की विशेषताएँ

परं परं सूक्ष्मम् ।।38।।

सूत्रार्थ : आगे-आगे का शरीर सूक्ष्म हैं।

विवेचन : उक्त पांचों शरीरों में औदारिक सबसे अधिक स्थूल है। वैक्रिय उससे सूक्ष्म है, आहारक वैक्रिय से भी सूक्ष्म है। आहारक से तैजस और तैजस से कार्मण सूक्ष्म व सूक्ष्मतर हैं।

प्रदेशतो-ऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ।।39।।

सूत्रार्थ : प्रदेशों की संख्या की दृष्टि से तैजस से पूर्व के शरीरों का परिमाण असंख्यात गुणा होता हैं।

विवेचन : प्रदेश अर्थात् परमाणु। परमाणुओं से बने जिन स्कन्धों से शरीर बनता है वे ही स्कन्ध शरीर के आरम्भक द्रव्य है। जब तक परमाणु अलग-अलग हो तब तक उनसे शरीर नहीं बनता। परमाणु पुन्ज, जो कि स्कन्ध कहलाते हैं, उनसे ही शरीर बनता है। वे स्कन्ध भी अनंत परमाणुओं के बने हुए होने चाहिए। औदारिक शरीर के आरम्भक स्कन्ध अनंत परमाणुओं के होते हैं और वैक्रिय शरीर के आरम्भक स्कन्ध भी अनंत परमाणुओं के होते हैं, पर वैक्रिय शरीर के स्कन्धगत परमाणुओं की अनंत संख्या औदारिक शरीर के स्कन्धगत परमाणुओं की संख्या से असंख्यात गुणा अधिक होती हैं। यह क्रम आहारक शरीर तक है। अत: औदारिक की अपेक्षा वैक्रिय के प्रदेश असंख्यात गुणे, वैक्रिय से आहारक के प्रदेश असंख्यात गुणे होते हैं।

अनन्त गुणे परे ।।40।।

सूत्रार्थ : तैजस और कार्मण शरीरों के प्रदेश क्रमश: अनंतगुणा होते हैं।

अप्रतिघाते ।।41।।

सूत्रार्थ : दोनों शरीर अबाध्य (बाधा रहित) होते हैं।

विवेचन : आहारक से तैजस के प्रदेश अनंत गुण अधिक होते हैं तथा तैजस से कार्मण के स्कन्ध परमाणु अनंतगुण अधिक होते हैं।

तैजस-कार्मण शरीर की विशेषता

एक मूर्तिमान द्रव्य का दूसरे मूर्तिमान द्रव्य से रूक जाना या टकराना प्रतिघात कहलाता है। तैजस और कार्मण इन दोनों शरीर का प्रतिघात नहीं होता, इसलिए वे अप्रतिघाती (बाधा रहित) कहलाते हैं। ये दोनों लोक के अन्त तक हर जगह जा सकते हैं और चाहे जहां से निकल सकते हैं। वज्र जैसी कठोर वस्तु भी उन्हें प्रवेश करने से रोक नहीं सकती। साधारणतया यह समझा जाता है

कि एक मूर्त से दूसरी मूर्त वस्तु का प्रतिघात होता है, पर यह नियम स्थूल वस्तुओं पर लागू होता है सूक्ष्म पर नहीं। वैसे तो वैक्रिय और आहारक शरीर भी सूक्ष्म होने पर हर किसी में प्रवेश कर सकता है लेकिन वैक्रिय शरीर त्रसनाड़ी तक ही गमन कर सकता है। आहारक शरीर का गमन अधिक से अधिक ढाई द्वीप तक जहां केवली व श्रुतकेवली होते हैं, वहाँ तक होता है। मनुष्य का वैक्रिय शरीर मनुष्य लोक से आगे नहीं जा सकता।

अनादि सम्बन्धे च ||42||

सूत्रार्थ : (तैजस और कार्मण) इन दोनों शरीरों का आत्मा के साथ अनादि काल से सम्बन्ध है।

सर्वस्य ||43||

सूत्रार्थ : ये दोनों शरीर सभी संसारी जीवों के होते हैं।

विवेचन : तैजस और कार्मण शरीरों का सम्बन्ध आत्मा के साथ प्रवाह रूप से अनादि है। जिस प्रकार नदी का प्रवाह चलता है, उसका जल प्रतिक्षण आगे बढ़ता रहता है और पिछला (पीछे की ओर से) प्रतिक्षण आता रहता है, किन्तु जल सदा बना रहता है। इसी प्रकार तैजस और कार्मण शरीर से पूर्व में बंधे हुए स्कन्ध (दलिक) प्रतिक्षण झरते रहते है और नये दलिक बंधते रहते है।

सभी संसारी जीवों में यह दोनों शरीर स्थायी रूप से रहते हैं। औदारिक आदि आरम्भ के तीन शरीर अमुक काल पश्चात् सदा नहीं रहते। इसलिए उनका आत्मा के साथ सम्बन्ध कंथचित् है।

तैजस और कार्मण शरीर की विशेषता

अप्रतिघात	**अनादि सम्बन्ध**	**सभी के**
(बाधा रहित)	(आत्मा के साथ अनादि काल से संबन्ध है)	(सभी संसारी जीवों के)

एक साथ एक जीव के कितने शरीर सम्भव

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ||44||

सूत्रार्थ : एक साथ एक जीव के तैजस और कार्मण से लेकर चार शरीर तक विकल्प से होते हैं।

विवेचन : इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि किसी भी संसारी जीव को एक शरीर नहीं हो सकता, कम से कम दो और अधिक से अधिक चार हो सकते हैं। एक साथ पांच शरीर किसी के नहीं हो सकते।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किसी मुनि के पास वैक्रिय एवं आहारक दोनों शरीर होने से पांच भी हो सकते हैं, किन्तु यहाँ उपयोग की अपेक्षा चार बताए गए हैं। जब वैक्रिय का उपयोग होगा, तब आहारक का नहीं और जब आहारक का होगा, तब वैक्रिय का नहीं।

एक साथ एक जीव के कितने शरीर

दो	तीन	तीन	चार	चार
तैजस और कार्मण	तैजस, कार्मण, औदारिक	तैजस, कार्मण, वैक्रिय	तैजस, कार्मण, औदारिक वैक्रिय	तैजस, कार्मण, औदारिक, आहारक
मोडवाली विग्रह गति में स्थित जीव	मनुष्य और तिर्यंच	देव और नारकी	वैक्रिय लब्धि धारी मुनि	छठे गुणस्थानक आहारक ऋद्धिधारी मुनि अर्थात् चौदह पूर्वधारी मुनि

कार्मण शरीर की निरूपभोगिता

निरूपभोग-मन्त्यम् ।।45।।

सूत्रार्थ : अंतिम अर्थात् कार्मण शरीर उपभोग रहित होता है।

विवेचन : इस सूत्र में कार्मण शरीर को निरूपभोग बताया है। अर्थात् कार्मण शरीर में उपभोग (सुख दुखादि के अनुभव) नहीं होता। सामान्यत: जीव इन्द्रियों के शुभाशुभ या इष्ट-अनिष्ट विषयों को ग्रहण कर सुख दुखादि का अनुभव कर, अनेक प्रकार की क्रिया करते हुए उनका उपभोग करता हैं। कार्मण शरीर अकेला इनका उपभोग नहीं कर सकता, उसे अन्य शरीरों की सहायता आवश्यक होती है।

तैजस शरीर पचन-पाचन आदि करता है तथा श्राप, वरदान आदि भी इसका कार्य है। औदारिक शरीर के द्वारा सुख-दुख आदि का अनुभव करते हैं, देव और नारकी वैक्रिय शरीर से सुख-दुख आदि का अनुभव करते हैं। चौदह पूर्वधारी आहारक शरीर से अपना शरीर सिद्ध करते हैं। अत: यह सभी शरीर सोपभोग हैं।

Jain Education International

For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

गर्भसम्मूर्च्छनज-माद्यम् ||46||

सूत्रार्थ : गर्भज और सर्म्मूच्छिम जीवों का औदारिक शरीर होता है।

विवेचन : आद्यम् का अर्थ है पहला। पाँच शरीर में पहला है - औदारिक। गर्भ और सर्म्मूच्छिम रूप से जन्म सिर्फ मनुष्य और तिर्यंच का ही होता है अत: औदारिक शरीर इन दोनों के होते हैं।

वैक्रिय शरीर की विशेषता

वैक्रिय-मौपपातिकम् ||47||

सूत्रार्थ : उपपात जन्म लेने वाले जीवों का वैक्रिय शरीर होता है ।

लब्धि-प्रत्ययं च ||48||

सूत्रार्थ : यह लब्धि रूप से भी होता है।

विवेचन : देव और नारकियों को जन्मसिद्ध वैक्रिय शरीर होता हैं। यह शरीर लब्धि विशेष से भी प्राप्त होता है। लब्धि एक तपोजन्य शक्ति है जो तपस्या आदि के द्वारा प्रकट होती है। यह कुछ ही गर्भज मनुष्यों व तिर्यंचों में हो सकती हैं। इनके अतिरिक्त सिर्फ बादर वायुकायिक जीवों में भी वैक्रिय लब्धि मानी गई है। किन्तु उनको यह तपोजन्य नहीं स्वाभाविक है।

आहारक शरीर की विशेषता

शुभं विशुद्ध-मव्याघातिचाSSहारकं चतुर्दश-पूर्वधरस्यैव ||49||

सूत्रार्थ : आहारक शरीर शुभ, विशुद्ध, बाधा रहित और वह चौदह पूर्वधारी को ही होता है।

विवेचन : इस सूत्र में आहारक शरीर की विशेषताएँ एवं प्रयोजन बताया है। किसी सूक्ष्म विषय में सन्देह होने पर उसके निवारण के लिए अर्थात् जब कभी किसी चौदह पूर्वधारी मुनि को गहनविषय में सन्देह हो और सर्वज्ञ का सन्निधान (सान्निध्य) न हो तब वे औदारिक शरीर से क्षेत्रान्तर में जाना असम्भव देखकर अपनी लब्धि का प्रयोग करते है और हस्तप्रमाण छोटा-सा शरीर बनाते है, जो शुभ पुद्गल-जन्य होने से सुन्दर मनोज्ञ होता है, प्रशस्त उद्देश्य से बनाये जाने के कारण विशुद्ध होता है और अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अव्याधाती अर्थात् किसी को रोकनेवाला या किसी से रूकनेवाला नहीं होता। ऐसे शरीर से जहां तीर्थंकर होते है उनके निकट पहुंचकर अपने सन्देह का निवारण कर फिर अपने स्थान पर लौट आते है। यह कार्य केवल अन्तर्मुहूर्त में हो जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आहारक शरीर (संदेह का निराकरण करने लिए)

- **शुद्ध** — शुभ पुद्‌गल जन्य होने से
- **विशुद्ध** — प्रशस्त उद्देश्य से बनाये जाने के कारण
- **अव्याघाती (बाधा रहित)** — किसी को न रोकता है और न किसी से रूकता है
- **अधिकारी** — 14 पूर्वधारी

वेद के प्रकार

नारक-सम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ।।50।।

सूत्रार्थ : नारकी और सम्मूर्च्छिम जीव नपुंसक ही होते हैं।

न देवाः ।।51।।

सूत्रार्थ : देव नपुंसक नहीं होते।

विवेचन : इस क्षेत्र में वेद या लिंग का स्पष्टीकरण किया गया है। लिंग का अर्थ है चिन्ह। यह तीन प्रकार का है - पुलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग।

वेद का अर्थ है अभिलाषा विशेष या विषय भोग की अभिलाषा। वस्तुतः यह चारित्र मोहनीय कर्म का फल है। यह भी तीन प्रकार का हैं -

पुरूष वेद : स्त्री के साथ भोग करने की इच्छा।

स्त्री वेद : पुरूष के साथ भोग करने की इच्छा।

नपुंसक वेद : स्त्री-पुरूष दोनों के साथ भोग करने की इच्छा।

नारक और सम्मूर्च्छिम जीवों के नपुंसकवेद होता है। देवों के नपुंसक वेद नहीं होता, शेष दो वेद होते है। शेष सब अर्थात् गर्भज मनुष्यों एवं तिर्यंचों को तीनों वेद होते हैं।

वेद
(विषय भोग की अभिलाषी)

- **नारक** — नपुंसक वेद
- **देव** — स्त्री/पुरूष वेद
- **मनुष्य**
  - **गर्भज** — तीनों वेद
  - **समुच्छिंम** — नपुंसक
- **तिर्यंच**
  - **पंचेन्द्रिय** — तीनों वेद
  - **एकेन्द्रिय चउरिन्द्रिय** — नपुंसक

आयुष्य के प्रकार और उनके स्वामी

औपपातिक-चरमदेहोत्तम-पुरूषा-ऽसंख्येय-वर्षायुषोनपवर्त्यायुषः ।।52।।

सूत्रार्थ : उपपात जन्मवाले, चरमशरीरी, उत्तमदेहवाले और असंख्यात वर्ष की आयुवाले जीव अनपवर्तनीय आयुवाले होते हैं।

विवेचन : प्रस्तुत सूत्र में आयुष्य के प्रकार तथा उसके स्वामी का वर्णन किया गया है।

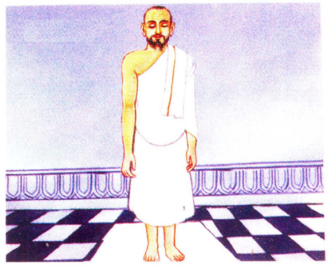

औपपातिक अर्थात उपपात जन्मवाले देवता और नारकी।

चरम शरीर - उसी भव में मोक्ष जानेवाले।

उत्तम पुरूष - तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव आदि।

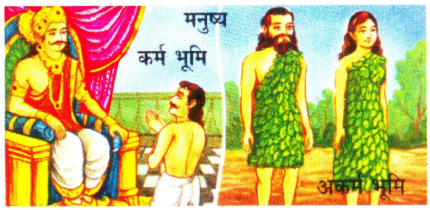

असंख्यात वर्ष की आयुवाले : भोग भूमियों तथा अन्तरद्वीपों में निवास करनेवाले मनुष्य और तिर्यंच। इन सब जीवों की अनपर्वतनीय आयुष्य होती है।

आयुष्य दो प्रकार होती हैं - a. अपवर्तनीय और
b. अनपवर्तनीय

a) अपवर्तनीय आयुष्य : जो आयु किसी शस्त्र, विष, पानी, अग्नि आदि का निमित्त पाकर बन्धकालिन स्थिति के पूर्ण होने से पहले ही शीघ्र भोगी जा सके, वह अपवर्तनीय आयुष्य है। इसे अकाल मरण भी कहते हैं।

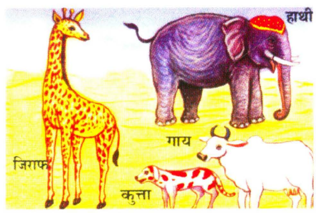

b) अनपवर्तनीय आयुष्य : जो आयु बन्धकालिन स्थिति के पूर्ण होने से पहले न भोगी जा सके वह अनपवर्तनीय आयु है। इसे काल मरण भी कहते हैं।

मान लीजिए - एक तिनको का (तृणों का) ढ़ेर है, उसमें आग की एक चिंगारी छोड़ दी गई, वह धीरे-धीरे एक-एक तिनके को जला रही है और उसके चारों ओर तथा बीच में आग की लपट छोड़ दी गई तो तिनकों का पूरा ढेर कुछ ही क्षणों में जलकर समाप्त हो जायेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक अग्नि कण द्वारा एक-एक तिनके को जलाया जाना सामान्य रूप से आयु पूरी हो रही है अर्थात् अनपवर्तनीय आयुष्य है।

लपट द्वारा तिनको के ढेर का भस्म हो जाना आयु का शीघ्र ही क्षीण हो जाना समाप्त हो जाना अर्थात् अपवर्तनीय आयुष्य है। आयु चाहे अपवर्तनीय या अनपवर्तनीय ही क्यों न हो दोनों हीं पूरी होती है अन्तर केवल जल्दी और देर का है।

नोट : मनुष्य और तिर्यंच को दोनों प्रकार की आयु हो सकती है।

आयुष्य

अपवर्तनीय
(नियत समय से पहले भोगी जा सके)
मनुष्य और तिर्यंच

अनपवर्तनीय
(बन्धकालिन स्थिति के पूर्ण होने से पहले न भोगी जा सके)
देव और नारक
चरम शरीर, उत्तम पुरूष,
असंख्यात वर्ष की आयुवाले

।। द्वितीय अध्याय समाप्त ।।

तृतीय अध्याय

* अधोलोक-मध्यलोक *

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय अध्याय

अधोलोक-मध्यलोक

द्वितीय अध्याय में गति की अपेक्षा से नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव के औदयिकादि भाव, गति, योनि, जन्म, प्रकार आदि का वर्णन किया गया है। इस अध्याय में नारक जीवों के निवास, शरीर, वेदना, विक्रिया, लेश्या, परिणाम आदि के विषय में चर्चा की गई है। नारक जीवों का निवास स्थान अधोलोक में है, एवं मनुष्य और तिर्यंच का निवास मध्यलोक में है अतः उनका भी वर्णन किया जा रहा है।

गतियों को समझने के लिए, पहले लोक स्थिति के विषय में जान लेना आवश्यक है! कहा जाता है **''लोयते इति लोक''** अर्थात् आकाश के जिस भाग में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि छः द्रव्य पाये जाते हैं, वह लोक कहलाता है। जहाँ आकाश के अतिरिक्त अन्य कोई भी द्रव्य नहीं पाया जाता है, वह अलोक है। वह अलोकाकाश अनन्तानन्त है, अखण्ड है, अमूर्त है। जैसे किसी विशाल स्थान के मध्य में छींका लटका हो उसी प्रकार अलोक के मध्य लोक अवस्थित है।

लोक का स्वरूप

लोक का आकार : लोक के आकार को एक उपमा के द्वारा बताया गया है कि जैसे जमीन पर एक मिट्टी का दीपक उलटा रखकर उसके ऊपर दूसरा सीधा रखा जाय और उस पर तीसरा दीपक फिर उलटा रख दिया जाय तो उसका जैसा आकार बनता है, वैसा ही आकार लोक का है। पांव फैलाकर और कमर पर दोनों हाथ रखकर वेष्टित पुरुष के आकार की उपमा भी लोक के आकार के लिये दी जाती है।

जैसे वृक्ष सभी ओर से त्वचा (छाल) से वेष्ठित होता है। इसी प्रकार संपूर्ण लोक तीन प्रकार के वलयों से वेष्ठित है। पहला वलय घनोदधि (जमे हुए पानी) का है। दूसरा वलय घनवात (जमी हुई हवा) का है। तीसरा वलय तनुवात (पतली हवा) का है।

लोक का माप : लोक नीचे से ऊपर 14 राज प्रमाण है। ऊपर 1 राज चौड़ा, ऊपरी मध्य भाग 5 राज चौड़ा है। फिर घटते घटते मध्य में 1 राज का चौड़ा रहता है। तत्पश्चात् क्रमशः विस्तृत होता हुआ नीचे 7 राज चौड़ा है। इसी प्रकार लोक नीचे से ऊपर तक सीधा 14 राज लम्बा है।

राज एक प्रकार का क्षेत्र प्रमाण है। आगम की भाषा में असंख्य कोटा कोटि (करोड x करोड) योजन जितना एक राज माना जाता है। एक उपमा के द्वारा भी इस प्रकार समझ सकते हैं - तीन करोड, इक्यासी लाख, बारह हजार नौ सौ सितर (3,81,12,970) मन वजन का एक भार होता है। ऐसे एक हजार भार के लोहे के गोले को कोई देवता ऊपर से नीचे फेंके। वह गोला छह मास, छह दिन, छह प्रहर और छह घड़ी में जितने क्षेत्र को लांघ कर जावे, उतने क्षेत्र को एक राज कहा जाता है।

Jain Education International

For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

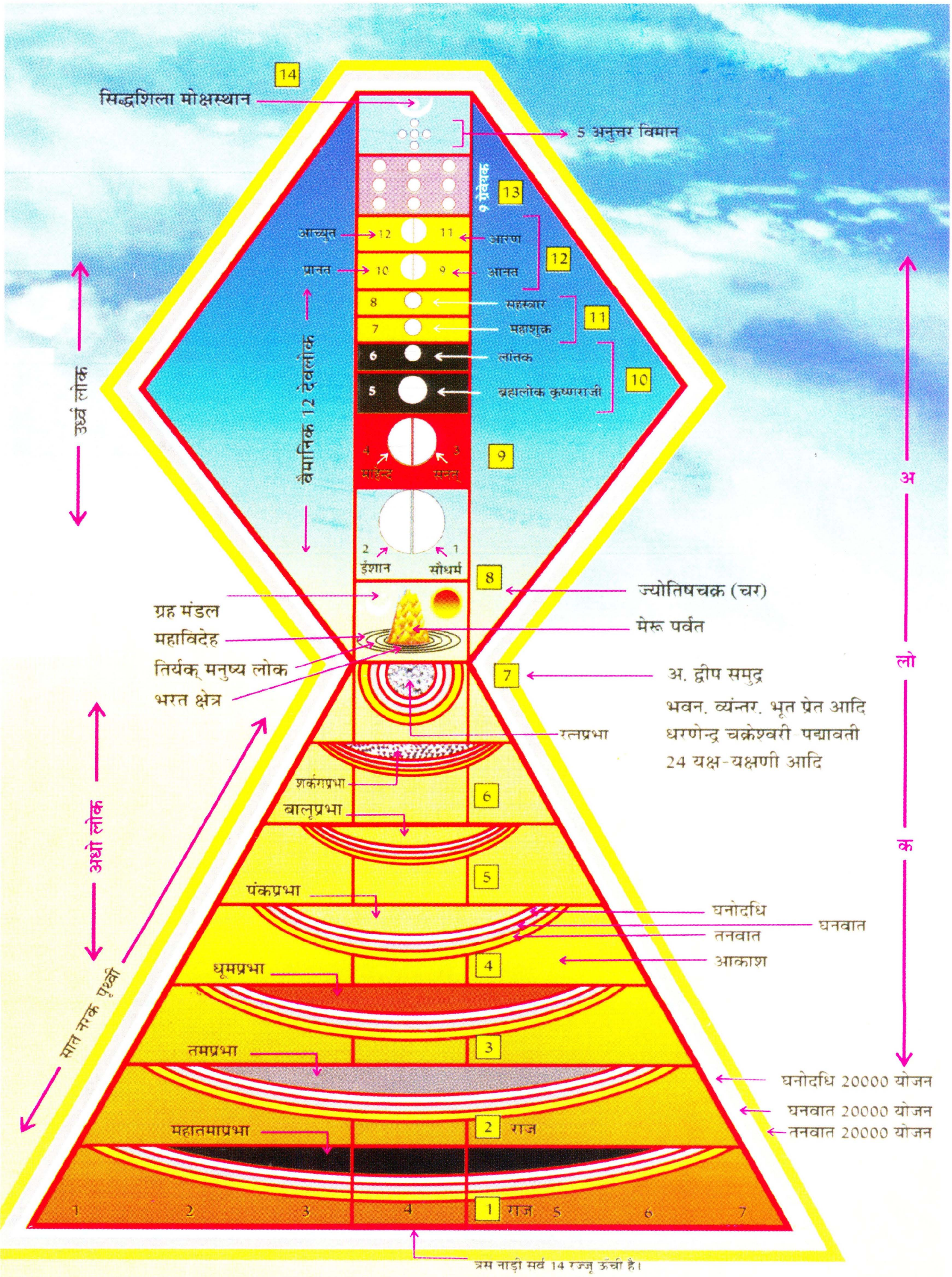

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लोक के विभाग : लोक के मुख्य तीन विभाग हैं - 1. अधोलोक, 2. मध्यलोक या तिर्यंक्लोक और 3. ऊर्ध्वलोक।

अधोलोक : चित्र में सबसे नीचे का एक भाग दिखाया है, वह अधोलोक नीचे से लगभग सात राज प्रमाण ऊँचा है। अधोलोक सबसे बडा है। इसमें सात नरक भूमियाँ है, जिनमें नारकी के जीव तथा भवनपति आदि असुर जाति के देव भी रहते हैं। यह वेभासन (बेंत की कुर्सी) के समान ऊपर संकडा 1 राजू तथा फिर नीचे की तरफ क्रमश: बढ़ता हुआ सात राज प्रमाण चौडा है।

मध्यलोक या तिर्यंक् लोक : अधोलोक के ऊपर तथा ऊर्ध्वलोक के नीचे बीच में 1800 योजन ऊंचा तथा 1 राज लम्बा मध्यलोक है। इसका आकार झालर या चूड़ी की आकृति जैसा गोल है। इसे तिर्यंक् या तिर्च्छालोक भी कहते है। मध्यलोक में ज्योतिष चक्र, मेरू पर्वत, जम्बूद्वीप आदि असंख्यद्वीप और समुद्र है। इसमें द्वीप समुद्र को और समुद्र द्वीप को परस्पर घेरे हुए है। मध्यलोक के मध्य में जम्बूद्वीप है, फिर लवण समुद्र है, फिर एक द्वीप और एक समुद्र है। इसी क्रम से चलते हुए सबसे अंतिम स्वयंभूरमण नामक द्वीप है और स्वयंभूरमण नाम का समुद्र उसे घेरे हुए है। इन द्वीपों में अढाई द्वीप है, जहाँ मनुष्य का निवास है। अढाई द्वीप में तीन द्वीप समाविष्ट है - 1. जम्बूद्वीप, 2. धातकीखंड द्वीप और 3. पुष्करार्द्ध द्वीप। इनमें जम्बूद्वीप और धातकीखण्ड द्वीप तो सम्पूर्ण द्वीप है, किन्तु पुष्करवर द्वीप को आधा लिया गया है। पुष्करवर द्वीप के आधे भाग के बाद मानुषोत्तर पर्वत है। वहाँ तक ही मनुष्य जन्म धारण कर सकता है, उससे आगे नहीं।

ऊर्ध्वलोक : मध्यलोक के ऊपर ऊर्ध्वलोक है जो आकार में मृदंग के समान है। यह नीचे से चौडा होते हुए बीच में 5 राज प्रमाण चौडा होकर पुन: संकुचित होता हुआ ऊपर एक रज्जू प्रमाण रह जाता है। यह मध्यलोक से नौ सौ योजन ऊपर है। ऊर्ध्वलोक में देवों का निवास है। देवताओं के निवास के कारण इसे देवलोक भी कहा जाता है। ज्योतिष चक्र से असंख्य योजन ऊपर जाने पर वैमानिक देव रहते हैं। पहला, दूसरा, तीसरा तथा चौथा देवलोक एक दूसरे के सामने अर्ध चन्द्राकार स्थिति में स्थित है। उनके ऊपर पांचवां ब्रह्मलोक है। वहाँ आठ कृष्ण राजियाँ है जिनके बीच में नवलोकान्तिक देव रहते हैं। पांच से आठ तक चार कल्पविमान एक दूसरे के ऊपर हैं। फिर नौ, दस, ग्यारह, बारह - ये चार विमान प्रथम चार की तरह एक दूसरे के सामने अर्ध चन्द्राकार स्थिति में स्थित है। बारहवें देवलोक के ऊपर नवग्रैवेयक देवलोक है। इसके ऊपर पांच अनुत्तर विमान है। अनुत्तर विमान के बारह योजन ऊपर अर्धचन्द्र के आकार में सिद्धशिला (मोक्ष स्थान) है। सिद्धशिला के एक योजन ऊपर लोकान्त क्षेत्र है जहाँ सिद्ध आत्माओं का निवास है।

त्रसनाडी : लोक के ठीक मध्य भाग में महल के स्तंभ के समान एक राज लम्बी और एक राज चौड़ी दो दो पक्तियाँ है वह त्रसनाडी है। त्रस जीवों की उत्पत्ति मात्र त्रसनाडी में ही होती है। इससे बाहर त्रस जीव नहीं होते हैं। इसमें स्थावरकाय जीव भी रहते हैं। किन्तु त्रस नाडी के बाहर सिर्फ सूक्ष्म एकेन्द्रिय स्थावरकाय के जीव ही है और उसके आगे अनंत अलोकाकाश हैं।

इस प्रकार नीचे से ऊपर 14 राज प्रमाण लोक है।

Jain Education International

For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

लोक (छः द्रव्य जहाँ पाये जाते है)

अधोलोक	**मध्यलोक**	**ऊर्ध्वलोक**
मेरूपर्वत की जड़ के नीचे बेभासन आकार	अधोलोक से ऊपर झालर आकार	मृदंग आकार
1 राज से 7 राज	1800 योजन ऊँचा 1 राज लम्बा	5 राज से 1 राज प्रमाण
नारकी जीव	ज्योतिष चक्र मेरूपर्वत	देवों के निवास
भवनपति देव	असंख्यद्वीप समुद्र	सिद्ध आत्मा
	मनुष्य, तिर्यंच	

नरकों का नाम

रत्न-शर्करा-बालुका-पंक-धूम-तमो-महातमःप्रभा भूमयो घनाम्बु-वाताऽऽकाश-प्रतिष्ठाः सप्ताऽधौ-ऽधः पृथुतरा ।।1।।

सूत्रार्थ : रत्नप्रभा, शर्करप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तम:प्रभा और महातम:प्रभा ये सात भूमियाँ है जो घनाम्बु, घनवात, तनुवात और आकाश के आधार पर स्थित है, क्रम से एक दूसरे के नीचे हैं तथा क्रमशः एक दूसरे से अधिक विस्तारवाली हैं।

तासु नरकाः ।।2।।

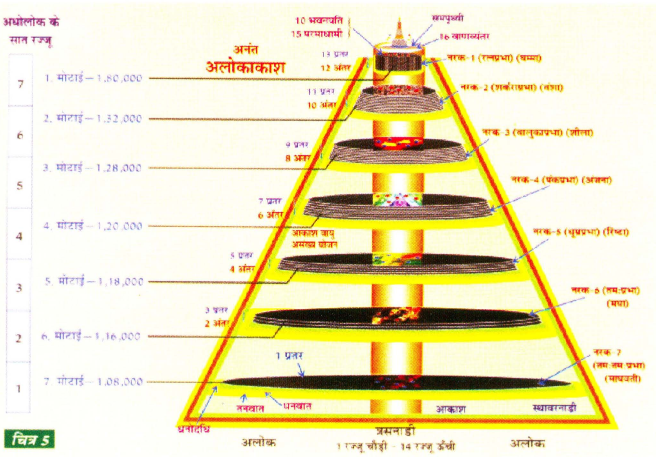

चित्र 5

सूत्रार्थ : उन भूमियों में नरक (नारक) है।

7 नरक भूमियों के सात नाम इस प्रकार है - 1. धम्मा, 2. वंशा, 3. सीला, 4. अंजना, 5. रिट्ठा, 6. मघा और 7. माघवती।

रत्नप्रभा आदि जो पृथ्वियों के नाम प्रसिद्ध है, वे उनके गोत्र है। यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो रत्नप्रभा आदि नाम उस स्थान विशेष के प्रभाव वातावरण (पर्यावरण) के कारण है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रत्न प्रभा भूमि काले वर्णवाले भयंकर रत्नों से व्याप्त है।

शर्करा प्रभा भूमि भाले और बरछी से भी अधिक तीक्ष्ण शूल जैसे कंकरों से भरी है।

बालुका प्रभा पृथ्वी में भाड़ की तपती हुई बालू से भी अधिक उष्ण रेत है।

पंकप्रभा में रक्त, मांस आदि दुर्गन्धित पदार्थो का कीचड़ भरा है।

धूमप्रभा में मिर्च आदि के धूएँ से भी अधिक तेज (तीक्ष्ण) दुर्गन्धवात धुआं व्याप्त रहता है।

तम:प्रभा में सतत घोर अंधकार छाया रहता है।

महातम:प्रभा में घोरातिघोर अंधकार व्याप्त है।

सात नरक

	मूल नाम	गौत्रिय नाम	पर्यावरण
1.	धम्मा	रत्न प्रभा	काले वर्ण वाले रत्न
2.	वंसा	शर्करा प्रभा	भाले और बरछी की तरह कंकर
3.	सीला	बालुका प्रभा	उष्ण रेत
4.	अंजना	पंक प्रभा	दुर्गन्धित पदार्थों का कीचड
5.	रिठ्टा	धूम प्रभा	धुआँ
6.	मघा	तम:प्रभा	अंधकार
7.	माघवती	महातम: प्रभा	घोर अंधकार

रत्न प्रभा में 13 पाथडे यानि पृथ्वीपिंड है और 12 आंतरे यानी रिक्त स्थान हैं। इस प्रकार यह 13 मंजिल जैसा भवन है। नारकों का निवास अधोलोक में है। नारकों के निवास को नरक भूमि कहते हैं। ऐसी सात नरक भूमियाँ हैं। ये भूमियाँ समश्रेणी में न होकर एक-दूसरे के नीचे है। इनका आयाम (लम्बाई) और विषकम्म (चौडाई) समान नहीं है। नीचे-नीचे की भूमि लम्बाई-चौडाई में अधिक अधिक है।

ये सातों नरक भूमियाँ एक दूसरे के नीचे है, परन्तु बिल्कुल सटी हुई नहीं है। इनके बीच में बहुत अन्तर है। इस अन्तर में घनोदधि (जमा हुआ पानी) घनवात (जमी हुई हवा) तनुवात (पतली हवा) और आकाश क्रमश: नीचे नीचे है। प्रथम नरक भूमि के नीचे घनोदधि है, इसके नीचे धनवात है, घनवात के नीचे तनुवात है और तनुवात के नीचे आकाश है। आकाश के बाद दूसरी नरक है। इस तरह सातवीं भूमि तक सब भूमियों के नीचे उसी क्रम से घनादधि आदि है।

यद्यपि नीचे-नीचे की भूमियों का लम्बाई-चौडाई उल्लेख अधिक है किन्तु उनकी मोटाई

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उत्तरोत्तर कम है।

प्रथम भूमि की मोटाई	-	1,80,000 योजन है
दूसरी भूमि की मोटाई	-	1,32,000 योजन है
तीसरी भूमि की मोटाई	-	1,28,000 योजन है
चौथी भूमि की मोटाई	-	1,20,000 योजन है
पांचवी भूमि की मोटाई	-	1,18,000 योजन है
छठी भूमि की मोटाई	-	1,16,000 योजन है
सातवीं भूमि की मोटाई	-	1,08,000 योजन है

पाथडो में नरकावास है। इन नरकावासों की संख्या 30 लाख है, जिनमें नारक जीव रहते हैं।

आन्तरों में पहले दो आन्तरे रिक्त यानी खाली है और शेष 10 में भवनपति देवों के निवास है। दूसरी नरकभूमि से सातवीं नरकभूमि तक के सभी आन्तरे खाली है। सात नरक में आन्तरे, पाथड़े और नरकावास की संख्या इस प्रकार है :

नरक	आन्तरे	पाथडे	नरकावास
1	12	13	30 लाख
2	10	11	25 लाख
3	8	9	15 लाख
4	6	7	10 लाख
5	4	5	3 लाख
6	2	3	5 कम 1 लाख (99,995)
7	-	1	5
कुल	42	49	कुल 84,00,000 नरकावास

नारकी जीवों का विशेष वर्णन

नित्या-ऽशुभतर-लेश्या-परिणाम-देह-वेदना-विक्रियाः ।।3।।

सूत्रार्थ : नारकी जीव निरन्तर अशुभतर लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया वाले होते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परस्परोदीरित दुःखाः ।।4।।

वे परस्पर एक-दूसरे को दुःख देते रहते हैं।

संक्लिष्टा-ऽसुरोदीरित-दुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ।।5।।

चौथी नरक भूमि से पहले यानी तीसरी नरक भूमि तक नारकी जीव क्रूर स्वभावी परमाधामी देवों के द्वारा दिये गये दुखों से भी पीड़ित होते हैं।

विवेचन : प्रस्तुत सूत्रों में नरक एवं नारकी जीवों के दुख बताये गये हैं। पहली नरक से दूसरी, दूसरी से तीसरी इस प्रकार सातवीं नरक तक अशुभ, अशुभतर, अशुभतम रचनावाले होते हैं। नित्य अर्थात् निरन्तर। गति, जाति, शरीर और अंगोपांग नाम कर्म के उदय से नरकगति में लेश्या, परिणाम आदि भाव जीवन पर्यन्त अशुभ ही बने रहते हैं।

लेश्या : योग और कषाय रंजित परिणामो को लेश्या कहते हैं। छः प्रकार की लेश्या हैं - कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पदम और शुक्ल लेश्या इनमें प्रथम तीन लेश्या अशुभ और अन्तिम की तीन लेश्या शुभ है। नारकी जीवों में कृष्ण, नील और कापोत यह तीन लेश्या होती है।

पहली और दूसरी नरक में	-	कापोत लेश्या
तीसरी नरक के ऊपर	-	कापोत
नीचे	-	नील
चौथी नरक में	-	नील
पांचवी नरक के ऊपर में	-	नील
नीचे	-	कृष्ण
छठी नरक में	-	कृष्ण
सातवीं नरक में	-	परम कृष्ण द्रव्य लेश्या होती है।

भाव लेश्या तो छहों होती हैं और वे अन्तर्मुहूर्त में बदलती रहती है।

परिणाम : क्षेत्र के कारण वहाँ के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, संस्थान आदि अनेक प्रकार के पौद्गलिक परिणाम, सातों भूमियों में उत्तरोत्तर अशुभ है।

शरीर : सातों नारकी जीवों के शरीर अशुभ नाम कर्म के उदय से हुंडक संस्थानवाले विभत्स होते हैं। यद्यपि उनका शरीर वैक्रियिक है फिर भी उसमें मल, मूत्र, पीब आदि सभी घृणास्पद अशुचि सामग्री रहती हैं। प्रथम नरक में शरीर की ऊँचाई 7 धनुष 3 हाथ और 6 अंगुल है। आगे की नरकों में क्रमशः दुगुनी होकर सातवें नरक में 500 धनुष हो जाती है।

Jain Education International

For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

विक्रिया : विक्रिया का अर्थ है मूल शरीर को छोटा-बड़ा बनाने और विभिन्न रूप बनाने की शक्ति। यह शक्ति उन्हें सहज ही प्राप्त होती है। वे दुख से घबरा कर छुटकारे के लिए प्रयत्न करते हैं। सुख के साधन जुटाने से उनको दुख के साधन ही प्राप्त होते हैं।

वेदना : नरक में तीन प्रकार की वेदना नारकी जीवों को भोगनी पडती है - 1. क्षेत्र जन्य 2. परस्परजन्य और 3. परमाधामी देवों द्वारा।

क्षेत्र जन्य : इस वेदना का कारण नरक-भूमि है। पहली तीन नरक भूमियों में जीव उष्ण वेदना, चौथी में उष्ण शीत, पाँचवी में शीत-उष्ण, छठी में शीत और सातवीं में शीततर वेदना है। यह उष्ण और शीत वेदना इतनी तीव्र है कि नारक जीव यदि मध्यलोक की भयंकर गर्मी में या भयंकर ठण्ड में आ जायें तो उन्हें बडे सुख की नींद आ सकती है।

नारकी जीवों को अत्यधिक भूख-प्यास लगती है किन्तु उन्हें खाने को न अन्न का एक दाना मिलता है, न पीने को एक बूंद पानी भी।

नारकी जीव 1. अति क्षुधा, 2. अति तृषा, 3. अत्यधिक शीत, 4. अत्यंत उष्ण, 5. अनंत परवशता, 6. तीव्रज्वर, 7. तीव्र दाह (रोग), 8. घोर खुजली, 9. भय, 10. शोक

इन वेदनाओं को निरन्तर अनुभव करते हैं। कहा जाता है कि प्रत्येक नारकी जीवों को 5 करोड, 68 लाख, 99 हजार 584 (5,68,99,584) रोग लगे रहते हैं।

परस्परजन्य वेदना : नारकियों को भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता हैं। जिसे मिथ्यादर्शन के उदय से विभंगज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान के कारण दूर से ही दुःख के कारणों को जानकर उनको दुख उत्पन्न हो जाता है और समीप में आने पर एक दूसरे को देखने से उनकी क्रोधाग्नि भभक उठती है। तथा पूर्वभव का स्मरण होने से उनकी वैर की गांठ ओर मजबूत हो जाती है। जिससे वे कुत्ते और गीदड़ के समान एक दूसरे का घात करने के लिए तैयार हो जाते हैं। वे अपनी विक्रिया शक्ति से तलवार, फरसा, हथौडा, आदि अस्त्र शस्त्र बनाकर तथा अपने हाथ, पाँव और दांतों से छेदना, भेदना, काटना, मारना, छीलना आदि परस्पर एक दूसरे को दुख देने का कार्य करते रहते हैं।

किसी किसी जीव को नारकीय वेदना को भोगते-भोगते भी सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाता है। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव उन दुखों को अपने पूर्वकृत कर्म का फल जानकर समभाव से सहन करते हैं व दूसरों को दुःख या वेदना नहीं पहुँचाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परमाधामी देवकृत वेदना : भवनपति देवों की दूसरी जाति है - परमाधामी देव। ये बड़े क्रूर, कठोर तथा निर्दयी स्वभाव के होते हैं। दूसरों को सताने में पीड़ा पहुँचाने में इन्हें बडा मजा आता है। ये देव तीसरी नरक तक रहे नारकी जीवों को तरह तरह की यातनाएँ देते रहते हैं। यद्यपि ये परमाधामी असुर एक प्रकार के देव है, इन्हें और भी अन्य प्रकार के सुख साधन प्राप्त है फिर भी उनके माया, मिथ्या, निदान, शल्य, तीव्र कषाय आदि से ऐसा अकुशलानुबंधी पुण्य बंधा है जिससे उन्हें दूसरों को सताने में ही अधिक प्रसन्नता होती है। ये देव 15 प्रकार के हैं तथा मिथ्यादृष्टि जीव होते है। अपना आयुष्ण पूर्ण करके सामान्य तौर पर अंडगोलिक नामक क्रूर मनुष्य बनते हैं एवं वहाँ से आयुष्य पूर्ण कर पुनः ये स्वयं नरक में नारकी जीवों के रूप में पैदा होकर भारी दु:खों को भोगते हैं।

15 प्रकार के परमाधामी देवों के नाम और काम

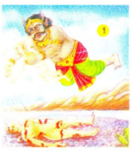

1. **अंब** — 500 योजन तक उछालना।

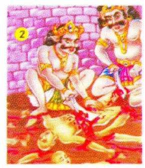

2. **अंबरीष** — छुरे से टुकड़े करना।

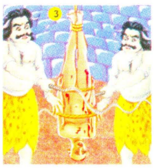

3. **श्याम** — मुट्ठि से प्रहार करना।

4. **शबल** — आंते-हृदय को फाड़ना।

5. **रूद्र** — भाला-बरछी से बींधना।

6. **महारौद्र** — अंगोपांग छेदन करना।

7. **काल** — उबलते तेल में डालना।

8. **महाकाल** — माँस के टुकड़े खिलाना।

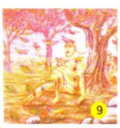

9. **असिपत्र** — तलवार से टुकड़े करना।

10. **धनुष** बाणों से नाक, कान आदि बींधना।

11. **कुंभ** कुंभीपाक में पकाना।

12. **बालुका** तपी हुई रेत में भुंजना।

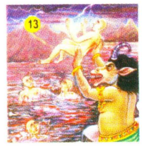

13. **वैतरणी** उबलती हुई नदी में फेकना।

14. **खरस्वर** कांटे वाले वृक्षों से रगडना।

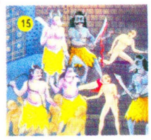

15. **महाघोष** पशुओं के समान बाड़े में डालना।

इस तरह भयंकर छेदन भेदन आदि होने पर भी नारकी जीव मृत्यु को प्राप्त नहीं होते क्योंकि उनकी अनपवर्तनीय आयु होती है।

नारकी जीवों की स्थिति, गति, आगति

तेष्वेक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविशंति-त्रयस्त्रिंशत्-सागरोपमाःसत्त्वानां परा स्थितिः ।।6।।

सूत्रार्थ : उन नारक जीवों की उत्कृष्ट आयु क्रमशः एक, तीन, सात, दस, सत्रह, बाईस और तैंतीस सागरोपम होती है।

विवेचन : प्रत्येक गति के जीवों की स्थिति (आयु मर्यादा) जघन्य और उत्कृष्ट दो प्रकार की है। जिससे कम न हो वह जघन्य और जिससे अधिक न हो वह उत्कृष्ट। प्रस्तुत सूत्र में उत्कृष्ट स्थिति ही बताई गई है। जघन्य स्थिति अध्याय चार के सूत्र 43/44 में बताई गई है जिसका विवेचन हम इसी के साथ कर लेते हैं।

स्थिति

नरक	जघन्य	उत्कृष्ट
1	10,000 वर्ष	1 सागरोपम
2	1 सागरोपम	3 सागरोपम
3	3 सागरोपम	7 सागरोपम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

4	7 सागरोपम	10 सागरोपम
5	10 सागरोपम	17 सागरोपम
6	17 सागरोपम	22 सागरोपम
7	22 सागरोपम	33 सागरोपम

यहाँ अधोलोक का वर्णन पूरा होता है। इसमें दो बाते विशेष जानने योग्य है - गति और आगति

जीवों के उत्पन्न होने को आगति कहते हैं। आयु पूर्ण करके दूसरी गति में जन्म लेने को गति कहा जाता हैं।

आगति

असंज्ञी जीव मरने पर - पहली नरक तक।
भुजपरिसर्प (चूहा, नेवला आदि) - दूसरी नरक तक।
खेचर (पक्षी) - तीसरी नरक तक।
स्थलचर (सिंह, अश्व आदि) - चौथी नरक तक।
उरपरिसर्प (सर्प आदि) - पांचवी नरक तक।
स्त्री - छठी नरक तक।
मत्स्य और मनुष्य - सातवीं तक जन्म ले सकते हैं।

गति

पहली से तीसरी तक - तीर्थंकर पद को प्राप्त कर सकता है।
पहली से चौथी - निर्वाण पद को प्राप्त कर सकता है।
पहली से पांचवीं - संयम पद को प्राप्त कर सकता है।
पहली से छठी - देशविरति पद को प्राप्त कर सकता है।
पहली से सातवीं - सम्यक्त्व पद को प्राप्त कर सकता है।

नरक से निकला जीव क्या नहीं होता है

नारकी | **देव** | **एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय**

इस प्रकार यहाँ तक नरक और नारकी जीवों का वर्णन समाप्त हुआ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मध्यलोक का वर्णन

द्वीप और समुद्र के नाम, आकार व विस्तार

जम्बूद्वीप-लवणादयःशुभनामानो द्वीप-समुद्राः ।।7।।

सूत्रार्थ : मध्यलोक में जम्बूद्वीप आदि शुभ नाम वाले असंख्य द्वीप तथा लवण समुद्र आदि शुभ नाम वाले असंख्य समुद्र हैं।

द्विर्द्विर्विष्कम्भाःपूर्व-पूर्व-परिक्षेपिणो वलयाकृतयः ।।8।।

सूत्रार्थ : ये सभी द्वीप और समुद्र दुगुने दुगुने विस्तार वाले हैं, पूर्व-पूर्व द्वीप समुद्र को घेरे हुए है और चूडी के आकारवाले हैं।

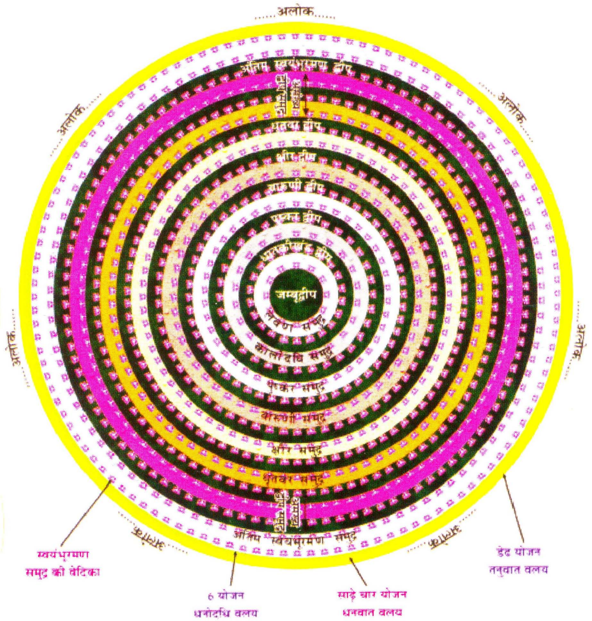

विवेचन : मध्यलोक में असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं। जो द्वीप के बाद समुद्र और समुद्र के बाद द्वीप इस क्रम से अवस्थित हैं। उन सबके नाम शुभ ही है। जम्बूद्वीप का पूर्व-पश्चिम तथा उत्तर-दक्षिण विस्तार एक-एक लाख योजन है, लवणसमुद्र का दोनों तरफ उससे दुगना है। इसी प्रकार घातकी खण्ड का लवणसमुद्र से, कालोदधि का धातकीखण्ड से, पुष्करवरद्वीप का कालोदधि से, पुष्करोदधि का पुष्करवरद्वीप से दुगना दुगना विष्कम्भ (विस्तार) है। यह क्रम अन्त तक चलता है। अंतिम द्वीप स्वयंभूरमण है, जिससे अंतिम समुद्र स्वयंभूरमण का विस्तार दुगना है, मध्यलोक चूडी के समान गोल आकार वाला है।

द्वीप विस्तार

जम्बूद्वीप - 1-1 लाख योजन

घातकी खंड - 4-4 लाख योजन

पुष्कर द्वीप - 16-16 लाख योजन

समुद्र विस्तार

लवण समुद्र - 2-2 लाख योजन।

कालोदधि समुद्र - 8-8 लाख योजन।

पुष्कर समुद्र - 32-32 लाख योजन।

आगे-आगे सभी द्वीप-समुद्र क्रमशः एक-दूसरे से दुगुने-दुगुने विस्तार वाले हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जम्बूद्वीप के क्षेत्र, पर्वत, द्रह व नदीयाँ

तन्मध्ये मेरूनाभिर्वृत्तो योजन - शत-सहस्त्र-विष्कम्भो जम्बूद्वीपः ।।9।।

सूत्रार्थ : उन सब (द्वीप-समद्रो) के मध्य में जम्बू नामक गोलाकार द्वीप है, जो एक लाख योजन चौड़ा है और उसके बीचोंबीच मेरूपर्वत है। अत: मेरू को जम्बूद्वीप की नाभि कहा जाता है।

तत्र भरत-हेमवत-हरि-विदेह-रम्यक्-हैरण्यवतैरावत-वर्षाः क्षेत्राणि।।10।।

सूत्रार्थ : जम्बूद्वीप में सात क्षेत्र है - भरत, हैमवत, हरि वर्ष, महाविदेह, रम्यक्, हैरण्यवत और ऐरावत।

तद्विभाजिनः पूर्व परायता हिमवन्महाहिमवन्निषध-नील-रूक्मि-शिखरिणो वर्षधर-पर्वताः ।।11।।

सूत्रार्थ : इस क्षेत्रों को विभाजन करनेवाले छः वर्षधर पर्वत है - हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रूक्मी और शिखरी, जो पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए है।

विवेचन : सभी द्वीप-समुद्रों के मध्य में सबसे छोटा द्वीप जम्बूद्वीप है। जम्बूद्वीप का पूर्व से पश्चिम, उत्तर से दक्षिण तक का विस्तार एक लाख योजन का है। इस द्वीप में जम्बू नामक वृक्ष है। इस कारण इसका नाम जम्बूद्वीप है। यह थाली की तरह गोल है। इसके मध्य में मेरूपर्वत है।

पाण्डुक वन में चारों दिशाओं में चार स्फटिक रत्न की शिलाये है, जिन पर देव-देवन्द्रों द्वारा परमात्मा का जन्माभिषेक महोत्सव मनाया जाता है। इन शिलाओं को अभिषेक शिला कहते हैं।

मेरूपर्वत व ज्योतिष देवों का वर्णन

मेरूपर्वत के पास की समभूतला भूमि से 790 योजन ऊपर जाने पर चर ज्योतिष चक्र का प्रारम्भ होता है। वहाँ से ऊपर जाने पर 110 योजन तक ज्योतिष देवों के विमान है। ज्योतिष देव 5 प्रकार के होते हैं। 1. चन्द्र, 2. सूर्य, 3. ग्रह, 4. नक्षत्र, 5. तारा। अढ़ाई द्वीप मनुष्य क्षेत्र का ज्योतिष चक्र निरन्तर मेरू पर्वत की प्रदक्षिणा करता रहता है। इसे चर ज्योतिष चक्र कहते हैं। अढ़ाई द्वीप में कुल 132 चन्द्र और 132 सूर्य निरन्तर 5 मेरू पर्वत की प्रदक्षिणा दे रहे हैं। जिनका विवरण इस प्रकार हैं-

जम्बूद्वीप में	-	2 सूर्य, 2 चन्द्र
लवण समुद्र में	-	4 सूर्य, 4 चन्द्र
धातकी खण्ड में	-	12 सूर्य, 12 चन्द्र
कालोदधि समुद्र में	-	42 सूर्य, 42 चन्द्र
अर्धपुष्करार्ध द्वीप में	-	72 सूर्य, 72 चन्द्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मेरु पर्वत

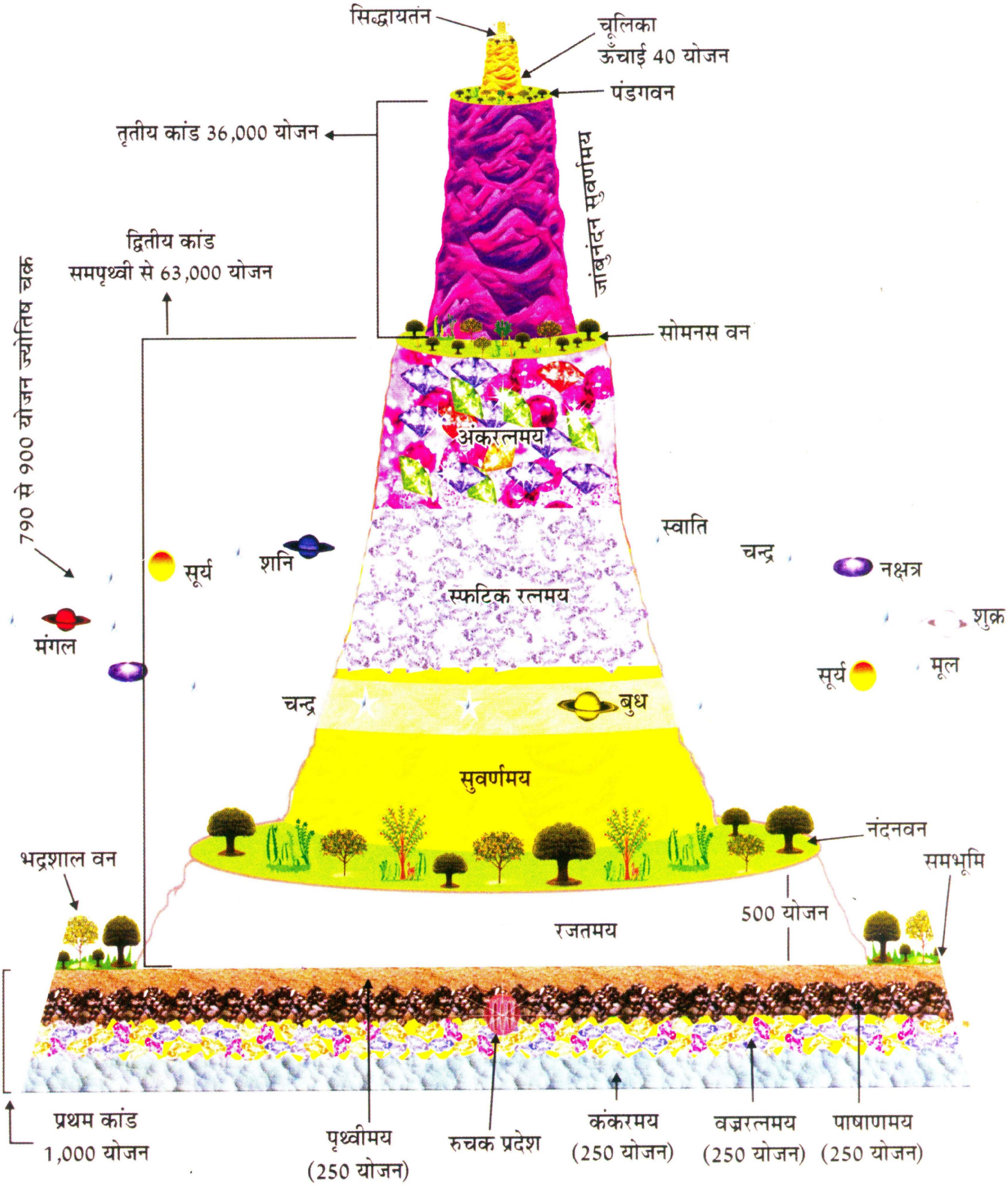

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जम्बूद्वीप का एक चक्कर लगाने में एक सूर्य और चन्द्र को लगभग दो दिन का समय लगता है।

अंतरिक्ष में हमें जो सूर्य, चन्द्र आदि ग्रह चमकते हुए दिखाई देते हैं वास्तव में वे उन देवों के देव विमान होते हैं। रत्न, स्फटिक आदि से निर्मित उन ग्रहों की चमक हमें आकाश में दिखाई देती है। जिसे लोक भाषा में हम सूर्य, चन्द्रादि कहते हैं।

संक्षेप में मेरू पर्वत का वर्णन :

मेरू पर्वत एक लाख योजन ऊँचा है। यह पर्वत 100 योजन नीचे रत्नप्रभा पृथ्वी (अधोलोक) में और 900 योजन तिर्यकलोक की भूमि के अन्दर दबा हुआ है। शेष 99000 योजन जमीन के ऊपर है। यह अधोलोक से लेकर ऊर्ध्वलोक तक तीनों लोकों में फैला हुआ है।

मेरूपर्वत के तीन काण्ड एवं चार वन

मेरूपर्वत की चूलिका के अलावा इसके तीन भाग हैं जिन्हें काण्ड कहते हैं। प्रथम काण्ड 1,000 योजन ऊँचा है, जो पृथ्वी के नीचे दबा हुआ है। यह मिट्टी, कंकर, पत्थर तथा हीरे का बना हुआ है।

दूसरा काण्ड 63000 योजन ऊंचाई तक है । यह स्फटिक रत्नों तथा सोना, चांदी से बना हुआ है।

तीसरा काण्ड 36000 योजन का है जो सोने का बना हुआ है।

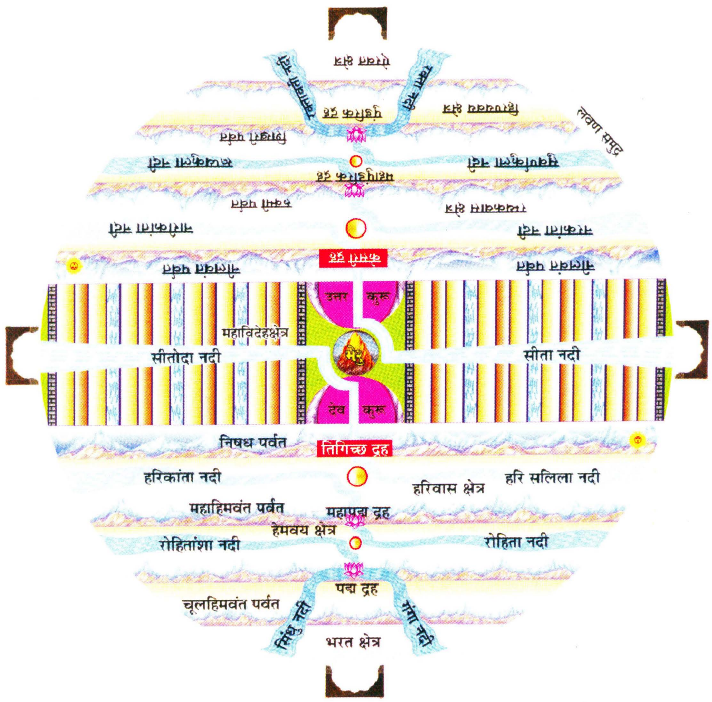

मेरूपर्वत पर जमीन पर भद्रशाल और ऊपर ऊपर नन्दन, सोमनस और पाण्डुक - ये 4 वन है। इन चारों वनों से मेरूपर्वत चारों ओर से घिरा हुआ है। सबसे ऊपर चूलिका जो 40 योजन प्रमाण हैं। पांडुक वन इसीके चारों ओर है।

जम्बूद्वीप में मुख्यतया सात क्षेत्र है जो वर्ष कहलाते हैं। इनमें पहला भरत दक्षिण की ओर है। भरत के उत्तर में हैमवत:हैमवत के उत्तर में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हरिवास हरिवास के उत्तर में विदेह, विदेह के उत्तर में रम्यक, रम्यक के उत्तर में हैरण्यवत और हैरण्यवत के उत्तर में ऐरावत वर्ष है।

सातों क्षेत्रों को एक दूसरे से अलग करनेवाले छ पर्वत हैं जो वर्षधर कहलाते हैं। ये सभी पूर्व-पश्चिम लम्बे हैं।

	क्षेत्र		**पर्वत**
1.	भरत और हैमवत के बीच	-	लघुहिमवंत
2.	हैमवत और हरिवर्ष के बीच	-	महाहिमवंत
3.	हरिवर्ष और विदेह के बीच	-	निषध
4.	विदेह और रम्यक के बीच	-	नील
5.	रम्यक और हिरण्य के बीच	-	रूक्मी
6.7.	हिरण्य और ऐरावत के बीच	-	शिखरी

जम्बूद्वीप में कुल 14 मुख्य महानदियाँ जो भरत आदि सात क्षेत्रों में बहती हैं।

	नदी		**क्षेत्र**
1-2	गंगा-सिंधु	-	भरत क्षेत्र
3-4	रक्ता-रक्तवती	-	ऐरावत क्षेत्र
5-6	रोहितांशा - रोहिता	-	हेमवत क्षेत्र
7-8	सुवर्णकुला - रूप्यकुला	-	हिरण्यवत क्षेत्र
9-10	हरिकांत - हरिसलिला	-	हरिवर्ष क्षेत्र
11-12	नरकांता - नारीकांता	-	रम्यक्वर्ष क्षेत्र
13-14	सीतोदा-सीता	-	महाविदेह क्षेत्र

	द्रह		**पर्वत**
1.	पदम द्रह	-	लघु हिमवन्त
2.	महा पद्म	-	महाहिमवन्त
3.	तिगिच्छ	-	निषध
4.	केशरी	-	नीलवंत
5.	महापुंडरिक	-	रूक्मी
6.	पुंडरिक	-	शिखरी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अढ़ाई द्वीप (मनुष्य क्षेत्र)

द्वि-र्धातकी खण्डे ||12||

सूत्रार्थ : धातकी खण्ड में क्षेत्र और पर्वत जम्बूद्वीप से दुगुने हैं।

पुष्करार्धे च - ||13||

सूत्रार्थ : पुष्करवरार्द्धद्वीप में भी (घातकीखण्ड द्वीप के समान) उतने ही क्षेत्र और पर्वत हैं।

प्रागमानुषोत्तरान्मनुष्याः ||14||

सूत्रार्थ : मानुषोत्तर पर्वत के पहले तक ही मनुष्य हैं।

विवेचन : मनुष्यलोक से अभिप्राय है जहां तक मनुष्य रहते हो या जिस क्षेत्र में मनुष्य का जन्म-मरण होता हो। ढ़ाईद्वीप और इनके मध्य में आनेवाले दो समुद्र यह मनुष्यलोक है।

	ढाई द्वीप	समुद्र
1.	जम्बूद्वीप	लवण समुद्र
2.	धातकी खंड द्वीप	कालोदधि समुद्र
3.	1/2 (आधा) पुष्करवर द्वीप	

मनुष्य इसी क्षेत्र में पाये जाते हैं।

जम्बूद्वीप की अपेक्षा धातकीखण्ड द्वीप में दुगुने पर्वत और क्षेत्र है। तथा आधा पुष्करवर द्वीप धातकीखण्ड द्वीप के समान है।

धातकीखण्ड में 2 मेरूपर्वत, 12 वर्षधरपर्वत तथा 14 क्षेत्र है। इतने ही पुष्करवरार्द्ध द्वीप में है।

द्वीप और समुद्र एक-दूसरे से चारों ओर से वेष्टित है। जम्बूद्वीप लवण समुद्र से, लवण समुद्र धातकी खण्ड द्वीप से, धातकीखण्ड द्वीप कालोदधि समुद्र से, कालोदधि समुद्र पुष्करवरद्वीप से चारों ओर से वेष्टित है।

पुष्करवरद्वीप में मानुषोत्तर पर्वत उत्तर दक्षिण विस्तृत है। नाम के अनुरूप यह मनुष्यलोक की सीमा है। इससे आगे के द्वीप समुद्रों में मनुष्य का जन्म एवं निवास नहीं होता है। शास्त्रों में कहीं कहीं वर्णन आता है कि चारण मुनि, विद्याधर नंदीश्वर द्वीप जाते है। देवों द्वारा अपहरण किये मनुष्य भी अढाई द्वीप की सीमा से बाहर ले जाये जा सकते हैं। किन्तु वहाँ उनका निवास चिरकाल तक नहीं हो पाता, जन्म मरण तो मानुषोत्तर पर्वत की सीमा में ही होते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

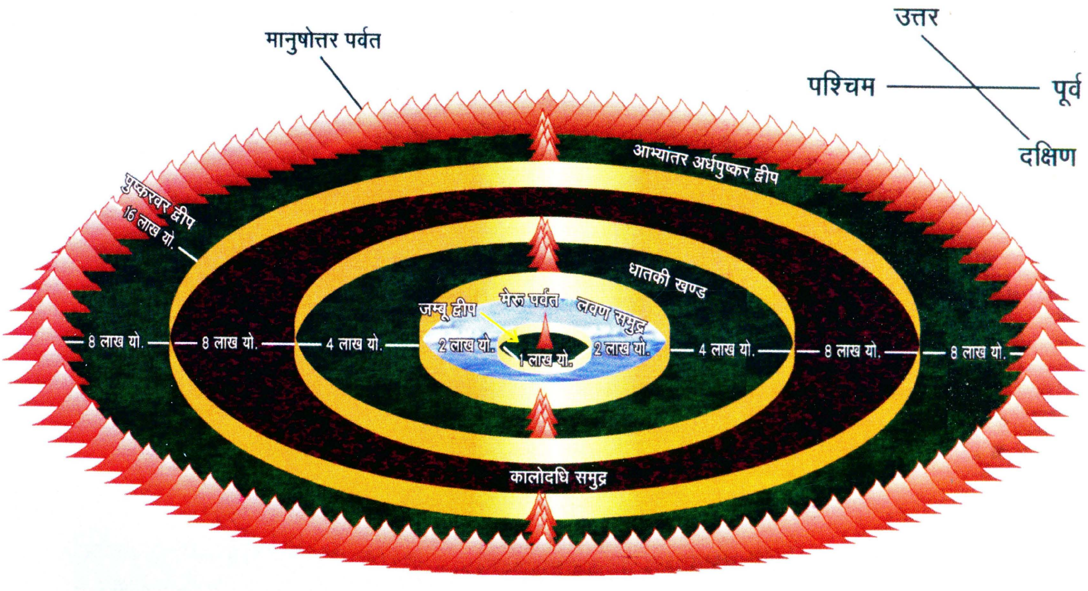

मनुष्य के भेद

आर्या म्लेच्छाश्च ।।15।।

सूत्रार्थ : मनुष्य दो प्रकार के हैं - 1. आर्य और 2. म्लेच्छ।

विवेचन : आर्य शब्द श्रेष्ठता का द्योतक है। अत: श्रेष्ठ गुणवाले, शील सदाचार संपन्न व्यक्ति आर्य कहलाते हैं।

म्लेच्छ : वे मनुष्य है, जिनका आचरण निन्दित और गर्हित होता है।

जिनके - खान-पान, बोल-चाल, आचार-विचार आदि क्रूरता पूर्ण एवं हिंसाप्रधान है।

निमित्त की अपेक्षा आर्यो के 6 भेद हैं -

1. **क्षेत्र आर्य :** आर्य क्षेत्र में जन्म लेने वाले।
2. **जात्यार्य :** उच्च जाति में जन्म लेने वाले।
3. **कुल आर्य :** श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न होनेवाले।
4. **कर्म आर्य :** श्रेष्ठ कर्म से जीविका उपार्जन करने वाले।
5. **शिल्पार्य :** कारीगरी से जीविका उपार्जन करने वाले।
6. **भाषार्य :** शिष्ट, विशिष्ट भाषा का प्रयोग करने वाले।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अढ़ाई द्वीप में कर्म भूमियाँ व अकर्म भूमियाँ

भरतैरावत-विदेहाः कर्मभूमयो-ऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरूभ्यः ।।16।।

सूत्रार्थ : देवकुरू और उत्तरकुरू के सिवा, भरत, ऐरावत और विदेह ये सब कर्मभूमियाँ है।

विवेचन : कर्मभूमि : जहाँ पर असि (शस्त्रादि), मसि (लेखन व व्यापार) तथा कृषि (खेती आदि) कर्म करके जीवन निर्वाह किया जाता है, उसे कर्मभूमि कहते हैं। कर्मभूमि में जन्मा मनुष्य ही धर्म आराधना कर मोक्ष आदि प्राप्त कर सकता है। कर्मभूमियाँ 15 हैं। 5 भरत, 5 ऐरावत 5 महाविदेह।

अकर्म भूमि : जहाँ पर असि, मसि, कृषि आदि कर्म किये बिना ही केवल दस प्रकार के कल्पवृक्षों द्वारा जीवन निर्वाह होता है, वह अकर्मभूमि कहलाती है। अकर्मभूमियाँ 30 है। 5 देव कुरू, 5 उत्तर कुरू, 5 हरिवास, 5 रम्यक, 5 हैमवत तथा 5 हिरण्यवत क्षेत्र। यद्यपि देवकुरू और उत्तर कुरू ये दो क्षेत्र महाविदेह के अन्तर्गत ही है तथापि वे कर्मभूमियाँ नहीं है, क्योंकि उनमें युगलिक धर्म होने से चारित्र ग्रहण नहीं होता।

मनुष्य एवं तिर्यंचों की आयु

नृस्थिती परापरेत्रि-पल्योपमाऽन्तर्मुहूर्ते ।।18।।

सूत्रार्थ : मनुष्य की उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम और जघन्य अन्तर्मुहूर्त होती है ।

तिर्यग्योनीनां च ।।19।।

सूत्रार्थ : तिर्यंचों की भी आयु इतनी ही होती है।

विवेचन : प्रस्तुत दोनों सूत्रों में मनुष्य एवं तिर्यंचों की आयु का वर्णन हैं।

मनुष्य और तिर्यंच जीवों की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट तीन पल्योपम। इस उत्कृष्ट और जघन्य आयु के मध्यवर्ती असंख्यात भेद होते हैं।

सूत्र में यह सामान्य कथन है। मनुष्य तो पंचेन्द्रिय होते हैं किन्तु तिर्यंच गति के अनेक भेद उपभेद है। इसमें स्थावर, त्रस, एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय आदि अनेक भेद है। इन सबकी उत्कृष्ट आयु अलग अलग हो सकती है। यहाँ जो उत्कृष्ट तीन पल्योपम की आयु तिर्यंच जीवों की बताई गई वह गर्भज, स्थलचर, जलचर आदि जीवों की समझना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्थिति दो प्रकार की है - 1. भव स्थिति और 2. कायस्थिति।

भवस्थिति : यानि जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त एक ही शरीर में रहने की काल सीमा।

कायस्थिति : यानि एक ही गति में निरन्तर बार-बार जन्म ग्रहण करते है।

मनुष्य गति में कोई भी जीव लगातार अधिक से अधिक सात-आठ बार ही जन्म ले सकता है।

भवस्थिति - जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट - 3 पल्योपम

कायस्थिति - जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट - 7-8 भव

किन्तु तिर्यंचों की कायस्थिति और भव स्थिति में अन्तर है। अत: इन दोनों स्थितियों का ज्ञान करने के लिए विशेष वर्णन है।

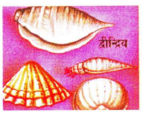
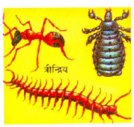
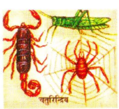

	जीव		**भव स्थिति (उत्कृष्ट)**	**काय स्थिति**
1.	पृथ्वीकाय	-	22000 वर्ष	असंख्यात अवसर्पिणी उत्सर्पिणी प्रमाण
2.	अप्काय	-	7000 वर्ष	
3.	तेउकाय	-	3 दिन (अहोरात्र)	
4.	वायुकाय	-	3000 वर्ष	
5.	वनस्पतिकाय	-	10000 वर्ष	अनंत उत्सर्पिणी अवसर्पिणी
6.	बेइन्द्रिय	-	12 वर्ष	संख्यात हजार वर्ष
7.	तेइन्द्रिय	-	49 दिन	
8.	चउरिन्द्रिय	-	6 मास	

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	जीव	भव स्थिति (उत्कृष्ट)	काय स्थिति
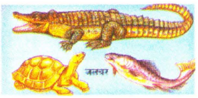	9. गर्भज जलचर	- करोड़ पूर्व वर्ष	सात या आठ जन्म ग्रहण
	सम्मूर्च्छिम		
	10. गर्भज उरपरिसर्प	- करोड़ पूर्व वर्ष	
	सम्मूर्च्छिम	53000 वर्ष	
	11. गर्भज भुजपरिसर्प	- करोड पूर्व वर्ष	
	सम्मूर्च्छिम	42000 वर्ष	
	12. खेचर	- पल्योपम का असंख्यातवां	
	सम्मूर्च्छिम	72000 वर्ष	
	13. चतुष्पद स्थलचर	- 3 पल्योपम	
	सम्मूर्च्छिम	84000 वर्ष	

नारक और देवों की भवस्थिति और कायस्थिति समान है, क्योंकि नारक जीव पुनः जन्म लेकर नारक नहीं बनते और इसी तरह देव भी पुनः देव नहीं बनते।

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥

चतुर्थ अध्याय

* देवलोक *

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ अध्याय

देवलोक

तीसरे अध्याय में मुख्य रूप से नारक, मनुष्य और तिर्यंच की स्थिति, क्षेत्र आदि का वर्णन किया गया था। इस चतुर्थ अध्याय में देवों के निकाय, उनकी स्थिति, लेश्या, निवास, विशेषता आदि का वर्णन किया जा रहा है।

देवों के प्रकार

देवाश्चतुर्निकाया: ।।1।।

सूत्रार्थ : देव चार निकायवाले हैं।

विवेचन : इस सूत्र में दो शब्द है 'देव' और 'निकाय'।

देव : जो जीव देवगति नाम कर्म के उदय से अनेक द्वीप समुद्र तथा पर्वतादि रमणीय स्थानों में नाना प्रकार की क्रीडा करते हैं वे देव कहलाते है। जिनका शरीर दिव्य अर्थात् सामान्य चर्मचक्षुओं से न दिखाई दे, जिनकी गति (गमन शक्ति) अति वेग वाली हो, जिनके शरीर में रक्त, मांस आदि धातुएँ न हों, मन चाहे रूप बना सकते हों जिनके आँखों की पलके न झपकें, पैर जमीन से चार अंगुल ऊँचे रहे, शरीर की छाया न पडे। गले में पहनी हुई माला न मुरझाये तथा जिनका जन्म उपपात अर्थात् फूलों की शय्या पर हो।

निकाय : समूह विशेष या जाति को निकाय कहते है। देव के चार निकाय या प्रकार के हैं- 1. भवनपति, 2. व्यंतर, 3. ज्योतिषक और 4. वैमानिक।

ज्योतिष देवों की लेश्या

तृतीय: पीतलेश्य: ।।2।।

सूत्रार्थ : तीसरा निकाय पीत लेश्या वाला है।

विवेचन : उक्त चार निकायों में ज्योतिष्क तीसरे निकाय के देव हैं। उनको पीतलेश्या (तेजोलेश्या) होती है। यहाँ लेश्या का अर्थ द्रव्य लेश्या अर्थात् शारीरिक वर्ण है, अध्यावसाय विशेष

रूप में भावलेश्या नहीं, क्योंकि छहो भाव लेश्याएँ सभी जीवों में होती हैं।

देवों के भेद, संख्या और श्रेणियाँ

दशा-ऽष्ट-पंच-द्वादश-विकल्पाः कल्पोपपन्न-पर्यन्ताः ||3||

सूत्रार्थ : कल्पोपन्न देवों तक चातुर्निकाय देवों के क्रमशः दस, आठ, पांच और बारह भेद हैं।

कल्पोपपन्न : कल्प (आचार) में उत्पन्न होनेवाले देव अर्थात् जिस देवलोक में इन्द्र, सामानिक आदि श्रेणियाँ पाई जाती है वे कल्पोपपन्न देव कहलाते हैं। वैमानिक देव के 12 देवलोक तक कल्पोपपन्न देव हैं।

कल्पातीत : जिन देवलोक में इन्द्र आदि श्रेणियाँ नहीं पायी जाती हैं उनमें उत्पन्न होनेवाले देव कल्पातीत देव कहलाते हैं। जैसे नवग्रैवेयक और पांच अनुत्तर ।

कल्पोपन्न देव : भवनपति 10, व्यन्तर के 8, ज्योतिष्क के 5 और वैमानिक के 12 भेद हैं।

इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिषद्या-ऽऽत्मरक्षक-लोकपाला-ऽनीक-प्रकीर्णका-ऽऽभियोग्य-किल्बिषिकाश्चैकशः ||4||

सूत्रार्थ : उक्त दस आदि कल्पोपन्न देव भेदों में इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश पारिषध, आत्मरक्षक, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्बिषिक आदि भेदवाले देव हैं।

त्रायस्त्रिंश-लोकपाल-वर्ज्या-व्यन्तर-ज्योतिष्काः ||5||

सूत्रार्थ : व्यंतर और ज्योतिष्क देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते हैं।

विवेचन : जिस प्रकार शासन की व्यवस्था तथा विभिन्न पदाधिकारी प्राचीनकाल में समृद्ध, सम्पन्न और सभ्य मानव राज्यों में थी, वैसी ही व्यवस्था बारहवें देवलोक तक हैं।

व्यंतर और ज्योतिष्क देवों में त्रायस्त्रिंश (पुरोहित, मंत्री आदि) और लोकपाल (कोतवाल) नहीं होते।

1. **इन्द्र** : इन्द्र का अर्थ स्वामी, अधिपति, ऐश्वर्यवान आदि। यह देव अपने समूह के स्वामी अथवा अधिपति होते हैं। इनकी आज्ञा सभी देव मानते हैं।

2. **सामानिक** : आज्ञा और ऐश्वर्य के सिवाय, स्थान, आयु-शक्ति, परिवार भोगपभोग आदि में जो इन्द्र के समान हैं वे सामानिक है। ये पिता गुरू, उपाध्याय आदि के समान आदरणीय होते हैं।

3. **त्रायास्त्रिंश** : मंत्री और पुरोहित के समान हित चेतानेवाले त्रायस्त्रिंश देव हैं।

4. **पारिषद्य** : सभा में मित्र एवं प्रेमीजनों के समान होते हैं। इन्द्र की सभा के सदस्य।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

5. आत्मरक्षक : अंग रक्षक, शस्त्र धारण किये इन्द्र के सिंहासन के पीछे खड़े रहने वाले देव।

6. लोकपाल : जो देव कोतवाल के समान लोगों का पालन करे या सीमाओं की रक्षा के लिए उत्तरदायी देव।

7. अनीक : सैनिक या सेनापति। जो देव 7 प्रकार की सेना में विभक्त हैं।

8. प्रकीर्णक : सामान्य प्रजाजन अथवा नगरवासियों के समान देव।

9. आभियोग्य : जो देव दासों की तरह सवारी आदि में काम आते हैं। सिंह, हाथी आदि रूप में परिणत होकर विमान आदि को खींचते हैं।

10. किल्विषिक : जो देव चांडाल आदि की भांति हल्के दरजे का काम करते हैं।

देवों के 10 सामान्य भेद

1.	इन्द्र	-	राजा
2.	सामानिक	-	पिता, गुरू, उपाध्याय
3.	त्रायस्त्रिंश	-	मंत्री और पुरोहित
4.	पारिवद्य	-	मित्र, प्रेमीजन
5.	आत्मरक्षक	-	अंगरक्षक
6.	लोकपाल	-	कोतवाल
7.	अनीक	-	सेनापति, सैनिक
8.	प्रकीर्णक	-	सामान्य प्रजाजन, नगरवासी
9.	आभियोग्य	-	दास
10.	किल्विषिक	-	चांडालादि

इन्द्रों की संख्या

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ।।6।।

सूत्रार्थ : प्रथम दो निकाय अर्थात् भवनपति और व्यंतर में दो-दो इन्द्र होते हैं।

विवेचन : भवनपति के असुरकुमार आदि दस प्रकार के देवों में तथा व्यन्तर के किन्नर आदि आठ प्रकार के देवों में दो-दो इन्द्र होते हैं इनमें से एक उत्तरदिशा तथा एक दक्षिण दिशा का इन्द्र होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दस भवनपति के नाम	उनके इन्द्र
1. असुर कुमार	चमर और बलि।
2. नागकुमार	धरण और भूतानन्द।
3. सुवर्णकुमार	वेणुदेव और वेणुदाली।
4. विद्युतकुमार	हरि और हरिसह।
5. अग्निकुमार	अग्निशिख और अग्निमानव।
6. द्वीपकुमार	पूर्ण और वशिष्ट।
7. उदधिकुमार	जलकान्त और जलप्रभ।
8. दिक्कुमार	अमितगति और अमित वाहन।
9. वायुकुमार	वेलम्बन और प्रभंजन।
10. स्तनितकुमार	घोष और महाघोष।

इसी प्रकार व्यन्तर निकाय को भी दो-दो इन्द्र होते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं।

आठ व्यंतर के नाम	उनके इन्द्र
1. किन्नर	किन्नर और किंपुरूष
2. किंपुरूष	सत्पुरूष और महापुरूष
3. महोरग	अतिकाय और महाकाय
4. गन्धर्व	गीतरति और गीतयश
5. यक्ष	पूर्णभद्र और मणिभद्र
6. राक्षस	भीम और महाभीम
7. भूत	सुरूप और प्रतिरूप
8. पिशाच	काल और महाकाल

इनके अतिरिक्त ज्योतिष्क और वैमानिक के इन्द्र के बारे में यहाँ नहीं बताया किन्तु अन्य ग्रंथों के आधार पर उनका विवरण इस प्रकार है -

ज्योतिष्क देवों के इन्द्र सूर्य और चन्द्र है। सूर्य और चन्द्र असंख्यात है क्योंकि ढ़ाई द्वीप में द्वीप-समुद्र भी असंख्यात ही है। इसलिए ज्योतिष्क देवों के इन्द्र भी असंख्यात ही है।

कल्पोपन्न वैमानिक देवों के 10 इन्द्र होते हैं। आठ देवलोक के उनके नामवाले आठ इन्द्र। प्रत्येक के एक-एक इन्द्र। आनत और प्राणत इन दो देवलोक के प्राणत नामक एक ही इन्द्र तथा आरण और अच्युत इन दो देवलोक का भी अच्युत नामक एक ही इन्द्र है।

नव ग्रैवेयक तथा पांच अनुत्तर विमानों के कोई इन्द्र नहीं होते क्योंकि वे कल्पातीत देव हैं।

पीतान्तलेश्या: ||7||

सूत्रार्थ : प्रथम दो निकाय के देव पीत पर्यन्त लेश्यावाले हैं।

विवेचन : भवनपति और व्यन्तर जाति के देवों में शारीरिक वर्ण रूप, द्रव्य, लेश्या कृष्ण, नील, कापोत और पीत (तेज:) ये चार ही मानी जाती है -

देव

नाम	भवनपति	व्यन्तर	ज्योतिष्क	वैमानिक
स्वरूप	जो भवनों में निवास करते	विविध प्रकार के रिक्त स्थानों में निवास	ज्योतिर्मय विमान में निवास	विमानो में निवास
भेद	10	8	5	12
भेद के नाम	देखिए सूत्र 11	सूत्र 12	सूत्र 13	सूत्र 20
लेश्या	4 (कृष्ण, नील कापोत, पीत)	4 (कृष्ण, नील कापोत, पीत)	1 (पीत)	पहले, दूसरे -पीत तीसरे, चौथे, पांचवे-पद्म छठें से सर्वार्थसिद्ध तक-शुक्ल लेश्या
प्रत्येक के सामान्य भेद इन्द्र, सामानिक आदि)	10	8 (त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं)	8 (त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं)	10
इन्द्र	20 दक्षिणार्थ - 10 उत्तरार्थ - 10	16 दक्षिणार्थ- 8 उत्तरार्थ - 8	असंख्यात प्रत्येक गृह में सूर्य और चन्द्र	10 1-8 = 8 9-10 =1 11-12 = 1

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

देवों के काम सुख

काय-प्रवीचारा आ-ऐशानात् ।।8।।

सूत्रार्थ : ऐशान स्वर्ग पर्यन्त तक के देव काय प्रवीचार अर्थात् शरीर से विषय-सुख भोगनेवाले होते हैं।

शेषाःस्पर्श-रूप-शब्द-मनः प्रवीचारा द्वयो-र्द्वयोः ।।9।।

सूत्रार्थ : शेष देव दो दो कल्पो में क्रमशः स्पर्श, रूप, शब्द और संकल्प द्वारा विषय सुख भोगते हैं।

परेऽप्रवीचाराः ।।10।।

सूत्रार्थ : बाकी के सब देव विषय रहित होते हैं।

विवेचन : मैथुन व्यवहार को प्रवीचार कहते हैं। शरीर से मैथुन सेवन को कायप्रवीचार कहते हैं।

भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा वैमानिक में पहले और दूसरे देवलोक के देव मनुष्य की तरह काया से काम भोग सेवन करते हैं।

तीसरे - चौथे देवलोक में देवी के स्पर्श मात्र से तृप्ति हो जाती है।

पांचवे - छठे देवलोक में देवी के रूप दर्शन मात्र से तृप्ति हो जाती है।

सातवें - आठवें देवलोक में देवी के शब्द श्रवण मात्र से तृप्ति हो जाती है।

नवें से बारहवें देवलोक में देवी के चिंतन मात्र से तृप्ति हो जाती है।

कल्पातीत देवों को काम-वासना सताती नहीं है।

चतुर्निकाय के देवों के भेद

भवनवासिनो-ऽसुर-नाग-विद्युत्सुपर्णाग्नि-वातस्तनितोदधि-द्वीप-दिक्कुमाराः ।।11।।

सूत्रार्थ : भवनपति देवों के दस भेद हैं - असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार।

विवेचन : प्रथम नरक में 13 प्रतर है और 12 अंतर है। ऊपर के दो अंतर खाली है। नीचे के दस अंतरों में दस भवनपति देवों के भवन है यानि तीसरे अंतर में पहले असुरकुमार नामक भवनपति के भवन है एवं आगे क्रमशः 12वें अंतर में 10वें भवनपति दिक्कुमार का भवन हैं।

ये देव भवनों में उत्पन्न होते हैं भवनो में निवास करते है तथा भवन प्रिय होने से इन्हें भवनपति देव कहते हैं।

सभी भवनपति देवों के पीछे कुमार शब्द लगा हुआ है जैसे असुरकुमार, नागकुमार आदि। ये देव यौवन अवस्था को प्राप्त कुमारों के समान वस्त्राभूषणों से सज्जित, मनोहर, सुकुमार तथा क्रीड़ाशील होते हैं। इनकी गति मृदु व लुभावनी होती हैं। इन्हीं कारणों से इनके नाम के पीछे कुमार शब्द जुडा है।

दस प्रकार के भवनपति देवों के चिन्हादि अपनी-अपनी जाति से भिन्न-भिन्न है जैसे -

1. **असुरकुमार के मुकुट में** - चूड़ामणि

2. **नागकुमार** - नाग

3. **विद्युतकुमार** - वज्र

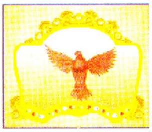

4. **सुपर्णकुमार** - गरूड

5. **अग्निकुमार** - घर या कुंभ

6. **वातकुमार** - अश्व

7. **स्तनितकुमार** - वर्धमान सकोरा संपुर

8. **उदधिकुमार** - मकर

9. **द्वीपकुमार** - सिंह

10. **दिक्कुमार** - हाथी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यन्तराः किन्नर-किंपुरूष-महोरग-गान्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचाः ।।12।।

सूत्रार्थ : व्यंतर देवों के आठ भेद हैं - किन्नर, किंपुरूष, महोरग, गान्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच।

विवेचन : सभी व्यंतरदेव ऊर्ध्व, मध्य और अधो इन तीनों लोकों में भवनों तथा आवासों में रहते हैं। वे स्वेच्छा से या दूसरों की प्रेरणा से भिन्न-भिन्न स्थानों पर आते जाते रहते हैं। उनमें से कुछ तो पूर्व भव के स्नेह सम्बन्धों के कारण मनुष्यों की सेवा करते हैं और यदि पूर्वभव का वैर हुआ तो दुख भी देते हैं। विविध पहाडो, गुफाओ वनो तथा वृक्षों के अन्तरों में बसने के कारण उन्हें व्यंतर कहते हैं।

ये आठ प्रकार के होते हैं किन्नर, किंपुरूष, महोरग, गान्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच।

अन्य ग्रन्थों में इनके 26 भेद बताये हैं, जिनमें से 8 प्रकार के व्यंतर, 8 प्रकार के वाणव्यंतर और 10 प्रकार के जृम्भक देव हैं।

ज्योतिषी देव

ज्योतिष्काः सूर्यश्चन्द्रमसो-ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णताराकाश्च ।।13।।

सूत्रार्थ : ज्योतिष्क देवों के पांच भेद हैं - सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णतारे।

विवेचन : सभी ज्योतिष्क देव और उनके विमान अत्यन्त प्रकाशमान होने के कारण इन्हें ज्योतिष्क देव कहा गया है। मेरूपर्वत के समतल भूमिभाग से 790 योजन से लेकर 900 योजन तक ज्योतिष्क देव रहते हैं। ये देव पांच प्रकार के होते हैं - 1. चन्द्र, 2. सूर्य, 3. ग्रह, 4.नक्षत्र और प्रकीर्ण तारा।

प्रकीर्ण तारो से आशय यह है कि कुछ तारे ऐसे भी है जो कभी सूर्य चन्द्र के नीचे गति करते हैं और कभी ऊपर गति करते हैं।

समतल भूमि से 790 योजन की ऊंचाई पर तारा का विमान है।

800 योजन की ऊँचाई पर सूर्य का विमान है।

880 योजन की ऊँचाई पर चन्द्र का विमान है।

884 योजन की ऊँचाई पर नक्षत्र का विमान है।

888 योजन की ऊँचाई पर बुध का विमान है।

891 योजन की ऊँचाई पर शुक्र का विमान है।

894 योजन की ऊँचाई पर वृहस्पति (गुरू) का विमान है।

897 योजन की ऊँचाई पर मंगल का विमान है।

900 योजन की ऊँचाई पर शनि का विमान है।

इस प्रकार सम्पूर्ण ज्योतिष्क चक्र 110 योजन (790 से 900) में फैला हुआ है।

ज्योतिष्क देवों के चिन्ह उनके मुकुट में होते है, उनसे उनकी पहचान होती है। सूर्य के मुकुट में सूर्य मंडल का चिन्ह होता है, चन्द्रमा के मुकुट में चन्द्र मण्डल का। इसी प्रकार विभिन्न गृह, नक्षत्र और तार के मुकुटों में भी इन इनके मण्डलों के चिन्ह होते हैं।

मेरूप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ।।14।।

सूत्रार्थ : उक्त पाँचों ज्योतिष्क देव मनुष्य लोक में हमेशा गतिशील रहते हुए मेरूपर्वत की प्रदक्षिणा लगाते हैं।

विवेचन : मनुष्य लोक के ज्योतिष्क देव कम से कम 1121 योजन दूर रहकर निरन्तर मेरूपर्वत के चारो ओर भ्रमण करते रहते हैं। अढाईद्वीप में कुल 132 सूर्य और 132 चन्द्र निरन्तर 5 मेरूपर्वतों की प्रदक्षिणा दे रहे हैं। जिनका विवरण पहले किया जा चुका है। एक सूर्य और चन्द्र का परिवार 28 नक्षत्र, 88 ग्रह और 66975 कोटा की तारो का होता हैं।

यद्यपि सूर्य, चन्द्र आदि के विमान स्वयं ही स्वभावत: अपने अपने मंडल में घूमते रहते हैं, तथापि उनके आभियोगिक देव तथाविध नामकर्म के उदय से स्व समान जाति में अपनी कीर्तिकला प्रकट करने के लिए कुछ देव उन विमानों को उठाते हैं। सामने के भाग में सिंहाकृति, दाहिने गजाकृति, पीछे वृषभकृति और बाये अश्वाकृतिवाले देव विमान को उठाकर चलते रहते हैं।

तत्कृत: कालविभाग: ।।15।।

सूत्रार्थ : उन (गतिशील ज्योतिष को) के द्वारा काल का विभाग हुआ है।

विवेचन : ज्योतिष्क देवों के भ्रमण (गति) से काल का विभाग होता है। समय, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, वर्ष, अतीत, अनागत, वर्तमान, संख्यात् असंख्यात् आदि अनेक प्रकार के काल व्यवहार मनुष्य लोक के ही होता है।

सूर्य-चन्द्र के परिभ्रमण से धरती पर दिन-रात, सर्दी-गर्मी आदि पडती है। समय, घंटा,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मिनट, सेकण्ड आदि का व्यवहार होता है। ग्रह नक्षत्रों के साथ चंद्रमा के योग से प्राणियों के शुभाशुभ कर्म प्रभावित होते हैं।

बहि-रवस्थिता ||16||

सूत्रार्थ : मनुष्य लोक के बाहर के ज्योतिष्क देव स्थिर होते हैं।

विवेचन : अढ़ाई द्वीप के बाहर असंख्य द्वीप और समुद्रों में ज्योतिष देव सदा स्थिर रहते हैं, क्योंकि उनके विमान स्वभावतः एक स्थान पर स्थिर रहते हैं। इसी कारण वहाँ समय, मुहूर्त, घड़ी, दिन-रात आदि काल व्यवहार नहीं होता। वहाँ, जहाँ रात्री है, सदा रात्रि एवं जहां दिन है वहां सदा दिन ही रहता है।

ज्योतिष देव (प्रकाशमान होने के कारण)	
अढ़ाईद्वीप में	**अढ़ाईद्वीप के बाहर**
सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा।	असंख्यात सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा।
132 चन्द्र-132 सूर्य निरन्तर गतिशील है। मेरूपर्वत की प्रदक्षिणा देते है।	हमेशा स्थिर रहते है।
व्यवहार काल विभाग के हेतु है।	व्यवहारकाल नहीं होता है।

वैमानिक देवों का वर्णन

वैमानिकाः ||17||

सूत्रार्थ : विमानों में रहने वाले देव वैमानिक हैं।

कल्पोपन्नाः कल्पातीताश्च ||18||

सूत्रार्थ : वैमानिक देव दो प्रकार के हैं - 1. कल्पोपपन्न और 2. कल्पातीत।

Jain Education International

For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

14

13

12

11

10

9

8

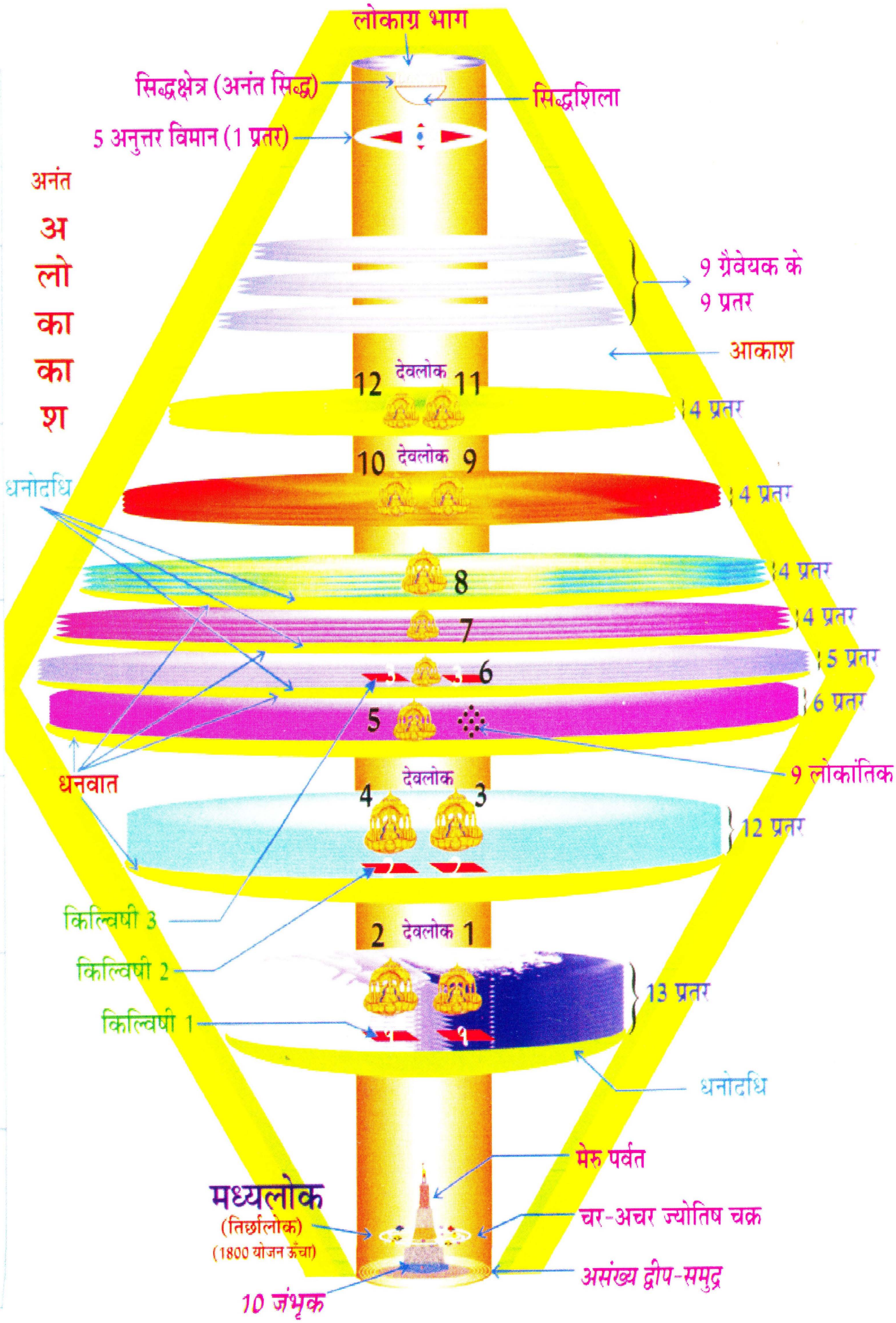

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युपरि ॥19॥

सूत्रार्थ : समस्त वैमानिक देव एक साथ न रहते हुए एक-दूसरे के ऊपर ऊपर स्थित हैं।

(कल्पोपपन्न और कल्पातीत देवों के विमान कृमशः ऊपर-ऊपर है)

सौधर्मेशान-सानत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्मलोक-लान्तक-महाशुक्र-सहस्रारेष्वानत-प्राणतयो-रारणा-च्युतयो-र्नवसुग्रैवेयकेषु-विजय-वैजयन्त-जयन्ता-ऽपराजितेषु सवार्थसिद्धे च ॥20॥

सूत्रार्थ : सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत, नव ग्रैवेयक, विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध इनमें वैमानिक देव रहते है।

विवेचन : सूत्र 17 से 20 तक वैमानिक देवों के निवास की चर्चा की गई है।

समतल भूमि से 900 योजन ऊपर से ऊर्ध्वलोक शुरू होता है। यानि वैमानिक देवलोक। विमानों में रहने के कारण ये देव वैमानिक कहलाते हैं। वैसे यह नाम पारिभाषिक ही है। क्योंकि अन्य जाति के देव भी विमान में रहते हैं। वैमानिक देवों के विमानों की यह विशेषता है कि वे अतिशय पुण्य के फल स्वरूप प्राप्त होते हैं उनमें निवास करने वाले देव भी विशेष पुण्यवान होते हैं। जैसे मकान में मंजिल होती है, उसी प्रकार देवलोक में प्रतर होते है। मंजिल में कमरों की तरह प्रतरों में विमान होते है।

वैमानिक देव दो प्रकार के होते हैं - 1. कल्पोपपन्न और 2. कल्पातीत

कल्प में अर्थात् जहाँ इन्द्र, सामानिक, मंत्री आदि की व्यवस्था है और उनमें उत्पन्न होने वाले देव कल्पोपपन्न। ऐसे व्यवस्था बारहवें देवलोक तक है।

जहाँ इन्द्र, सामानिक, मंत्री आदि की भेद-रेखा नहीं है, सभी देव समान हैं वे कल्पातीत कहलाते हैं। 9 ग्रैवेयक और 5 अनुत्तर विमानों के देव कल्पातीत हैं। ये सभी देव इन्द्रवत् होते है, अतः वे अहमिन्द्र कहलाते है।

ये समस्त वैमानिक देव न तो एक स्थान में है और न तिरछे है किन्तु एक-दूसरे के ऊपर-ऊपर स्थित है। 1, 2 देवलोक घनोदधि के आधार पर, 3, 4, 5 देवलोक धनवात के आधार पर (6,7,8) वाँ देवलोक घनोदधि और घनवात के आधार पर, इसके ऊपर सभी देवलोक के विमान आकाश के आधार पर टिके हुए है।

12 वैमानिक - 1. सौधर्म, 2. ऐशान, 3. सानत्कुमार, 4. माहेन्द्र, 5. ब्रह्मलोक, 6. लान्तक, 7. महाशुक्र, 8. सहस्रार, 9. आनत, 10. प्राणत, 11. आरण और 12. अच्युत।

9 ग्रैवेयक - 1. भद्र, 2. समुद्र, 3. सुजात, 4. सुमानस, 5. सुदर्शन, 6. प्रियदर्शन, 7. अमोह, 8. सुप्रतिबद्ध, 9. यशोधर।

5 अनुत्तर - 1. विजय, 2. वैजयंत, 3. जयंत, 4. अपराजित, 5. सर्वार्थ सिद्ध।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वैमानिक देव
(विमानों में रहने वाले देव)

कल्पोपपन्न	कल्पातीत
इन्द्रादि 10 प्रकार की व्यवस्था होती है	अहमिन्द्र सभी इन्द्र होते है, इन्द्रादि 10 प्रकार की व्यवस्था नहीं होती
बारहवें देवलोक तक	9 ग्रैवेवक और 5 अनुत्तर विमान

देवों की उत्तरोत्तर अधिकता और हीनता विषयक बातें

स्थिति-प्रभाव-सुख-धुति-लेश्या-विशुद्धीन्द्रिया-ऽवधि-विषयतोऽधिका: ।।21।।

सूत्रार्थ : आयु, सामर्थ्य, सुख, दीप्ति, लेश्या-विशुद्धि, इन्द्रिय, विषय और अवधिज्ञान का बल -ये सातों ऊपर-ऊपर के देवों में अधिक अधिक होते हैं।

विवेचन : नीचे नीचे के देवों से ऊपर-ऊपर के देव उपर्युक्त सात बातों में अधिक होते है। ये सात बाते निम्नलिखित है।

1. **स्थिति** : अर्थात् आयु। अपने द्वारा प्राप्त हुई आयु के उदय से उस भव में शरीर के साथ रहना स्थिति कहलाती है। इसका विशेष स्पष्टीकरण आगे सूत्र 30 से 53 तक किया गया है।

2. **प्रभाव** : अनुग्रह-निग्रह करने का सामर्थ्य, अणिमा महिमा आदि सिद्धियों का सामर्थ्य, दूसरों से काम करवाने का बल यह सब प्रभाव के अन्तर्गत आता है। ये सब उत्तरोत्तर देवों में अधिक है किन्तु कषाय की मन्दता के कारण वे इनका उपयोग नहीं करते है।

3. **सुख** : इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये गये विषयों का अनुभव करना।

4. **द्युति** : शरीर, वस्त्र, आभूषण आदि की कांति को द्युति कहते है। ये दोनों उत्तरोत्तर देवों में अधिक होती है।

5. **लेश्या विशुद्ध** : कषाय से रंगी हुई योग प्रवृत्ति लेश्या कहलाती है। लेश्या की निर्मलता लेश्या विशुद्धि है। इसका विवरण सूत्र 23 में किया गया है।

6. **इन्द्रियविषय** : इन्द्रिय द्वारा जानने योग्य पदार्थ को इन्द्रिय विषय कहते है। नीचे के देवों की अपेक्षा ऊपर के देवों की इन्द्रिय ग्रहण शक्ति अधिक होती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

7. अवधिज्ञान : अवधिज्ञान से जानने योग्य पदार्थों को अवधि विषय कहते हैं। ऊपर के देवों में अवधिज्ञान भी अधिक विस्तृत और अधिक विषयों को ग्रहण करनेवाला तथा निर्मल होता है।

पहले-दूसरे स्वर्ग के देव - नीचे रत्नप्रभा नरक तक तथा ऊपर अपने भवन तक देख सकते है।

तीसरे-चौथे - नीचे शर्करा प्रभा नरक तक तथा ऊपर अपने भवन तक देख सकते है।

पांचवे-छठे - नीचे बालुकाप्रभा तक तथा ऊपर अपने भवन तक देख सकते है।

सातवें-आठवें - नीचे पंकप्रभा तक तथा ऊपर अपने भवन तक।

नौवें से बारहवें तक - नीचे धूमप्रभा तक तथा ऊपर अपने अपने भवन तक।

नवग्रैवेयक - नीचे तम:प्रभा तक तथा ऊपर अपने अपने भवन तक।

अनुत्तर विमानवासी - संपूर्ण त्रसनाडी को देख सकते हैं।

गति-शरीर-परिग्रहा-ऽभिमानतो हीनाः ।।22।।

सूत्रार्थ : गति, शरीर, परिमाण, परिग्रह और अहंकार - ये चारों ऊपर-ऊपर के देवों में हीन-हीन होते हैं।

विवेचन : निम्न चार बाते नीचे की अपेक्षा ऊपर के देवों में उत्तरोत्तर कम होती है।

1. गति : गमन क्रिया की प्रवृत्ति ऊपर-ऊपर देवों में कम होती है। ऊपर के देवों में उदासीन भाव बढता जाता है अत: उनको इधर-उधर जाने की रूचि कम हो जाती है।

2. शरीर : शरीर की ऊँचाई ऊपर-ऊपर के देवों में कम होती जाती है।

देवलोक	**शरीर**
पहले-दूसरे	सात हाथ
तीसरे-चौथे	छ हाथ
पाँचवे-छठे	पाँच हाथ
सातवें-आठवें	चार हाथ
नौवें से बारहवें तक	तीन हाथ
नव ग्रैवेयक	दो हाथ
अनुत्तर विमानवासी	एक हाथ का शरीर होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

3. परिग्रह : परिग्रह अर्थात् आसक्ति। ऊपर-ऊपर देवलोक में विमानों की संख्या भी कम है और उनका परिग्रह (आसक्ति) भी कम हो जाता है।

4. अभिमान : अभिमान अर्थात् अहंकार। यद्यपि शक्ति, स्थिति द्युति आदि ऊपर के देवों में अधिक-अधिक होती है फिर भी उनमें कषायों की मन्दता-भावों की गंभीरता के कारण अहंकार उत्तरोत्तर कम होता है।

इन देव सम्बन्धी उपयुक्त बातों के अतिरिक्त अन्य निम्नलिखित कुछ सामान्य बातें भी जानने योग्य है। जो इस प्रकार है -

1. उच्छ्वास : जैसे-जैसे देवों की आयु स्थिति बढती जाती है वैसे-वैसे उच्छवास का समय भी बढता जाता है। जैसे दस हजार वर्ष की आयुवाले देवों का एक-एक उच्छवास सात-सात स्तोक में होता है। एक पल्योपम की आयुवाले देवो का उच्छवास एक दिन में एक ही होता है। सागरोपम की आयुवाले देवों जितने सागरोपम की आयु हो उतने पक्ष में (15 दिन) उनका एक उच्छवास होता है।

2. आहार : देवता मनुष्य की तरह कवलाहार नहीं करते वे चारों ओर से योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके आहार सम्बन्धी आवश्यकता पूरी कर लेते हैं। दस हजार वर्ष की आयुवाले देव एक-एक दिन बीच में छोडकर आहार लेते हैं। पल्योपम आयुवाले देव 2 दिन से लेकर 9 दिन का समय के बीच आहार ग्रहण करते हैं। सागरोपम स्थिति वाले, जितने सागरोपम की उनकी आयु होती है, उतने हजार वर्ष बाद वे आहार ग्रहण करते हैं।

	10,000 वर्ष	**1 पल्योपम**	**1 सागरोपम**
उच्छवास	1 उच्छवास 7 स्तोक में	एक दिन में एक बार	15 दिन में एक बार
आहार	एक दिन छोड़कर एक दिन	2 से 9 दिन के बीच	1 हजार वर्ष बाद

3. वेदना : सामान्यता देवों के साता-वेदनीय कर्म का ही उदय रहता है। इसलिए वे साता (सुख) का ही अनुभव करते हैं। कभी आसाता वेदनीय का उदय हो भी जाय तो वह अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा नहीं रहता।

4. उपपात : उपपात अर्थात् उत्पन्न होना। देवों के जन्म लेने को उपपात कहा जाता है। **सम्यग्दृष्टि साधु**-सर्वार्थसिद्ध तक उत्पन्न हो सकते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चौदह पूर्वधारी साधु पाँचवें देवलोक अर्थात् ब्रह्मलोक से सर्वार्थसिद्ध तक।

मिथ्यादृष्टि साधु नवग्रैवेयक तक।

अन्य लिंग मिथ्यादृष्टि साधु बारहवें देवलोक तक।

पीत-पद्म-शुक्ल-लेश्या द्वि-त्रि-शेषेषु ।।23।।

सूत्रार्थ : दो, तीन और शेष देवलोक में क्रमशः पीत, पद्म, शुक्ल लेश्या होती हैं।

विवेचन : पहले-दूसरे देवलोक में पीत (तेजो) लेश्या होती है। तीसरे, चौथे, पाँचवें देवलोक में पद्म लेश्या होती है। छठे से सर्वार्थसिद्ध तक शुक्ल लेश्या होती है।

प्राग्-ग्रैवेयकेभ्यःकल्पाः ।।24।।

सूत्रार्थ : ग्रैवेयक के पहले-पहले देवलोकों में कल्प की व्यवस्था होती है।

लोकांतिक देवों का वर्णन

ब्रह्मलोका-ऽऽलया लोकान्तिकाः ।।25।।

सूत्रार्थ : लोकान्तिक देवों का निवास स्थान पाँचवा ब्रह्मलोक है।

सारस्वता-ऽऽदित्य-वन्हि-अरूण-गर्दतोय-तुषिता-ऽव्याबाध-मरूतो-ऽरिष्टाश्च ।।26।।

सूत्रार्थ : लोकान्तिक देव नौ प्रकार के है - 1. सारस्वत, 2. आदित्य, 3. वन्हि, 4. अरूण, 5. गर्दतोय, 6. तुषित, 7. अव्याबाध, 8. मरूत और 9. अरिष्ट।

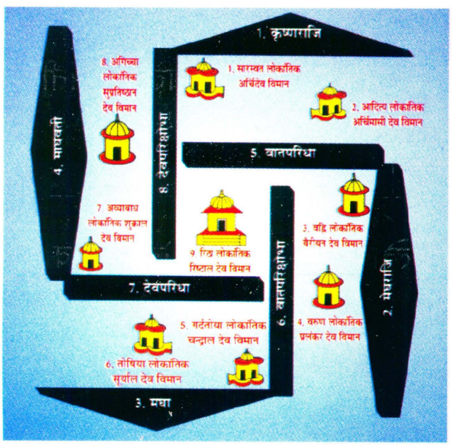

विवेचन : उपर्युक्त सूत्रों में लोकान्तिक देवों का निवास स्थान तथा उनके प्रकार बताये गये हैं।

पाँचवें देवलोक के दक्षिण दिशा में असंख्यात योजन की आठ कृष्णराजि है। कृष्ण अर्थात् काला पाषाण रूप, राजि अर्थात् शिलाएँ। यह कृष्णराजि काले रत्नों की बनी हुई है। इनके नाम इस प्रकार है - 1. कृष्णराजी, 2. मेघराजी, 3. मघा, 4. माधव, 5. वातपरिधा, 6. वातपरिक्षोभा, 7. देवपरिधा और 8. देवपरिक्षोभा। इन आठ कृष्णराजियो के आठ खाली जगहों में आठ लोकान्तिक देवों के विमान है और एक विमान बीच में है। सब मिलाकर कुल नौ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लोकान्तिक देवों के विमान-आवास है। इन विमान में रहने वाले क्रमश देवों के नाम क्रमश: 1. सारस्वत, 2. आदित्य, 3. वन्हि, 4. अरूण, 5. गर्दतोय, 6. तुषित, 7. अव्याबाध, 8. मरूत और 9. अरिष्ट है।

इन लोकांतिक देवों के स्वामी सम्यग्दृष्टि तथा एक भवावतारी होते है। लोक का शीघ्र ही अंत करने वाले होने से इन्हें लोकान्तिक देव कहते हैं। ये देव तीर्थंकर जब दीक्षा लेने का विचार करते है तब वहाँ पर अपने जीत व्यवहार के अनुसार आकर उनसे धर्मतीर्थ प्रवर्तन की प्रार्थना करते है। ये देव विषय रति से परे होने से देवर्षि कहलाते हैं। आपस में छोटे-बड़े न होने से सभी स्वतन्त्र हैं।

लोकान्तिक देव

निवास	नाम की सार्थकता	भेद	विशेषता
पाँचवें ब्रह्मलोक के आठ कृष्ण राजियों की खाली जगह में।	शीघ्र ही लोक (संसार) का अंत करने वाले होने से	1. सारस्वत 2. आदित्य 3. वन्हि 4. अरूण 5. गर्दतोय 6. तुषित 7. अव्याबाध 8. मरूत 9. अरिष्ट	1. स्वतंत्र 2. देवर्षि (ब्रह्मचारी) 3. सम्यग्दृष्टि 4. संसार से विरक्त 5. एक भवावतारी 6. तीर्थंकरो को दीक्षा लेने के लिए विनंती करते हैं।

इनके अलावा वैमानिक देवलोक में तीन प्रकार के किल्विषिक (सफाई करनेवाले) देव, जो पहले, तीसरे तथा छठे देवलोक के नीचे रहते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुत्तर विमानों के देवों की विशेषता

विजयादिषु द्विचरमाः ||27||

सूत्रार्थ : विजयादि चार अनुत्तर विमानों के देव द्विचरम होते हैं।

विवेचन : अनुत्तर विमान पांच हैं। पांचों विमान सर्वोत्कृष्ट और सबसे ऊपर होने के कारण अनुत्तर विमान कहलाते हैं। इन पांचों विमानों के नाम इस प्रकार हैं - 1. पूर्व में विजय, 2. दक्षिण में वैजयन्त, 3. पश्चिम में जयन्त, 4. उत्तर में अपराजित और 5. मध्य में सर्वार्थसिद्ध विमान है।

पांचों अनुत्तर विमानवासी एकान्त सम्यग्दृष्टि होते है। उनमें से प्रथम चार विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित द्विचरम होते हैं, अतः अधिक से अधिक दो बार मनुष्य जन्म धारण करके मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। इसका क्रम इस प्रकार है कि अपने विमानों से च्युत होने के बाद मनुष्य जन्म, उसके बाद अनुत्तर विमान में देव जन्म, वहाँ से फिर मनुष्य जन्म और उसी जन्म में मोक्ष। परन्तु सर्वार्थ सिद्धि विमानवासी देव वहाँ से च्युत होने के बाद केवल एक बार मनुष्य जन्म धारण करके उसी भव में मोक्ष प्राप्त करते हैं।

तिर्यंच का स्वरूप

औपपातिक-मनुष्येभ्यःशेषास्तिर्यग्योनयः ||28||

सूत्रार्थ : औपपातिक और मनुष्य के अतिरिक्त सभी जीव तिर्यंच योनी वाले होते हैं।

विवेचन : औपपातिक अर्थात् देव और नारक तथा मनुष्य को छोड़कर शेष सभी संसारी जीव तिर्यंच हैं। देव-नारक और मनुष्य केवल पंचेन्द्रिय होते हैं। पर तिर्यंच में एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक सब जीव आ जाते हैं। देव नारक और मनुष्य लोक के विशेष भाग में होते है तथा तिर्यंच संपूर्ण लोकाकाश में होते हैं।

भवनपति देवों की उत्कृष्ट व जघन्य आयु

स्थितिः ||29||

सूत्रार्थ : यहाँ से आयु का वर्णन शुरू होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भवनेषु दक्षिणाऽर्धा-ऽधिपतीनां पल्योपम-मध्यर्धम् ||30||

सूत्रार्थ : भवनपतियों में दक्षिणार्द्ध के इन्द्रों की आयु डेढ़ पल्योपम होती हैं।

शेषाणां पादोने ||31||

सूत्रार्थ : शेष इन्द्रों की आयु पौने दो पल्योपम होती है।

असुरेन्द्रयोः सागरोपम-मधिकं च ||32||

सूत्रार्थ : दो असुरेन्द्रो की आयु क्रमशः एक सागरोपम और एक सागरोपम से कुछ अधिक होती है।

विवेचन : प्रस्तुत सूत्र 29 में स्थिति (आयु) बताने का सूचन किया गया है, तथा सूत्र 30, 31, 32 में भवनपति देव के इन्द्रों की उत्कृष्ट आयु बताई गई है।

भवनपति देवों की उत्कृष्ट आयु

नाम	**दक्षिणार्ध के इन्द्र**	**उत्तरार्ध के इन्द्र**
1. असुरकुमार	1 सागरोपम	1 सागरोपम से कुछ आदि
2. नागकुमार से स्तनितकुमार तक (नौ प्रकार)	डेढ (1 ½) पल्योपम	पौने दो (1 ¾) पल्योपम

वैमानिक देवों की उत्कृष्ट आयु

सौधर्मादिषु यथाक्रमम् ||33||

सूत्रार्थ : सौधर्म आदि देवलोक में देवों की आयु क्रमशः होती है।

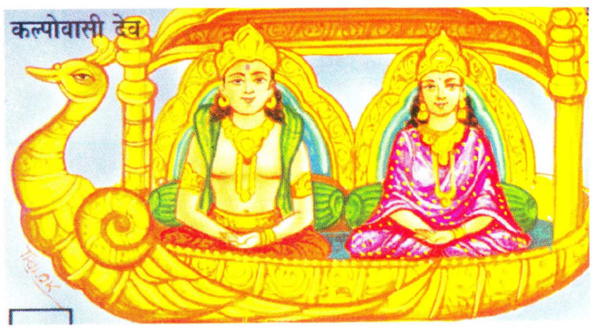

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सागरोपमे ||34||

सूत्रार्थ : सौधर्म देवलोक में दो सागरोपम की आयु होती है।

अधिके च ||35||

सूत्रार्थ : ईशान देवलोक में दो सागरोपम से कुछ अधिक होती है।

सप्त सानत्कुमारे ||36||

सूत्रार्थ : सानत्कुमार में सात सागरोपम की आयु होती है।

विशेष-त्रि-सप्त-दशैकादश-त्रयोदश-पंचदशभि-रधिकानि च ||37||

सूत्रार्थ : माहेन्द्र देवलोक से आरण-अच्युत तक क्रमशः कुछ अधिक सात सागरोपम आयु होती है।

तीन, अधिक सात सागरोपम (3+7=10)

सात, अधिक सात सागरोपम (7+7=14)

दस, अधिक सात सागरोपम (10+7=17)

ग्यारह अधिक सात सागरोपम (11+7-18)

तेरह अधिक सात सागरोपम (13+7=20)

पन्द्रह अधिक सात सागरोपम (15+7+22)

आरणा-ऽच्युतादूर्ध्व-मेकैकेन नवसुग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च ||38||

सूत्रार्थ : आरण-अच्युत के ऊपर नौ ग्रैवेयक, चार विजयादि और सर्वार्थसिद्ध की स्थिति अनुक्रम से एक-एक सागरोपम अधिक है।

वैमानिक देवों की जघन्य स्थिति

अपरा पल्योपम-मधिकं च ||39||

सूत्रार्थ : सौधर्म और ईशान में जघन्य आयु क्रमशः एक पल्योपम और अधिक एक पल्योपम होती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सागरोपम ।।40।।

सूत्रार्थ : सानत्कुमार की आयु दो सागरोपम होती है।

अधिके च ।।41।।

सूत्रार्थ : माहेन्द्र में कुछ अधिक दो सागरोपम होती है।

परतः परतः पूर्वा-पूर्वा-ऽनन्तराः ।।42।।

सूत्रार्थ : माहेन्द्र के बाद के देवलोकों में अपने-अपने से पहले के देवलोक की उत्कृष्ट आयु ही अपनी रूप जघन्य आयु होती है।

विवेचन : उपर्युक्त सूत्र 33 से लेकर 42 सूत्रों तक वैमानिक देवों की उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु का वर्णन किया गया है। जो तालिका के रूप में इस प्रकार है -

वैमानिक देवलोकों की जघन्य तथा उत्कृष्ट आयु

देवलोक के नाम	जघन्य	उत्कृष्ट
1. सौधर्म	1 पल्योपम	2 सागरोपम
2. ईशान	1 पल्योपम से कुछ अधिक	2 सागरोपम से कुछ अधिक
3. सानत्कुमर	2 सागरोपम	7 सागरोपम
4. माहेन्द्र	2 सागरोपम से कुछ अधिक	7 सागरोपम से कुछ अधिक
5. ब्रह्मलोक	7 सागरोपम	10 सागरोपम
6. लान्तक	10 सागरोपम	14 सागरोपम
7. महाशुक्र	14 सागरोपम	17 सागरोपम
8. सहस्रार	17 सागरोपम	18 सागरोपम
9. आनत	18 सागरोपम	20 सागरोपम
10. प्राणत	19 सागरोपम	20 सागरोपम
11. आरण	20 सागरोपम	22 सागरोपम
12. अच्युत	21 सागरोपम	22 सागरोपम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नव ग्रैवेयक

देवलोक के नाम	जघन्य आयु	उत्कृष्ट आयु
1. सुदर्शन	22 सागरोपम	23 सागरोपम
2. सुप्रतिबद्ध	23 सागरोपम	24 सागरोपम
3. मनोरम	24 सागरोपम	25 सागरोपम
4. सर्वतोभद्र	25 सागरोपम	26 सागरोपम
5. सुविशाल	26 सागरोपम	27 सागरोपम
6. सुमनस	27 सागरोपम	28 सागरोपम
7. सौमनस	28 सागरोपम	29 सागरोपम
8. प्रियंकर	29 सागरोपम	30 सागरोपम
9. नंदिकर	30 सागरोपम	31 सागरोपम

अनुत्तरविमान वासी

देवलोक के नाम	जघन्य आयु	उत्कृष्ट आयु
चार अनुत्तर (विजय, वैजयन्त, जयन्त,अपराजित)	31 सागरोपम	32 सागरोपम
सर्वार्थसिद्ध	33 सागरोपम एक समान स्थित है अन्तर नहीं है।	33 सागरोपम

नारकों, भवनपति एवं व्यंतर देवों की जघन्य स्थिति

नारकाणां च द्वितीयादिषु ||43||

सूत्रार्थ : दूसरी से सातवीं नरक तक पहले-पहले के नारक की उत्कृष्ट आयु बाद-बाद के नरक की जघन्य आयु होती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दशवर्ष-सहस्राणि प्रथमायाम् ।।44।।

सूत्रार्थ : प्रथम नरक में जघन्य आयु दस हजार वर्ष होती है।

विवेचन : प्रस्तुत दोनों सूत्रों में नारकी जीवों की जघन्य व उत्कृष्ट आयु बताई गई है।

नारकी जीवों की आयु

नरक के नाम	जघन्य आयु	उत्कृष्ट आयु
1. रत्न प्रभा	10,000	1 सागरोपम
2. शर्करा प्रभा	1 सागरोपम	3 सागरोपम
3. बालुका प्रभा	3 सागरोपम	7 सागरोपम
4. पंक प्रभा	7 सागरोपम	10 सागरोपम
5. धूम प्रभा	10 सागरोपम	17 सागरोपम
6. तम प्रभा	17 सागरोपम	22 सागरोपम
7. महातमः प्रभा	22 सागरोपम	33 सागरोपम

भवनेषु च ।।45।।

सूत्रार्थ : भवनपति देवों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष होती है।

व्यन्तराणां च ।।46।।

सूत्रार्थ : व्यन्तर देवों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष होती है।

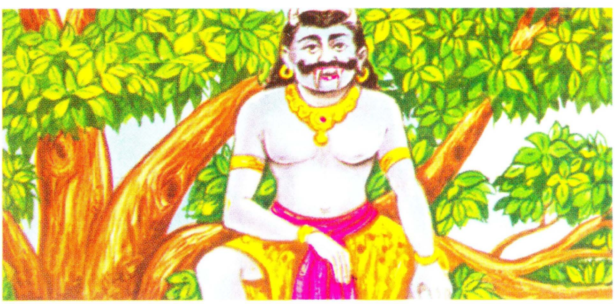

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परापल्योपमम् ||47||

सूत्रार्थ : व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट आयु 1 पल्योपम होती है।

ज्योतिष्क देवों की स्थिति

ज्योतिष्काणा-मधिकम् ||48||

सूत्रार्थ : ज्योतिष्क (सूर्य, चन्द्र) की उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्योपम है।

ग्रहाणा-मेकम् ||49||

ग्रहों की उत्कृष्ट आयु एक पल्योपम होती है।

नक्षत्राणा-मर्धम् ||50||

नक्षत्रों की आयु आधा पल्योपम (1/2) होती है।

तारकाणां चतुर्भागः ||51||

सूत्रार्थ : तारों की उत्कृष्ट आयु चौथा भाग (1/4) पल्योपम होती है।

जघन्य त्वष्टभागः ||52||

सूत्रार्थ : तारों की जघन्य आयु पल्योपम का आठवाँ भाग (1/8) होती है।

चतुर्भागःशेषाणाम् ||53||

सूत्रार्थ : शेष ज्योतिष्क देवों की जघन्य आयु पल्योपम का चौथ भाग (1/4) होती है।

विवेचन : प्रस्तुत सूत्र 48 से 53 तक ज्योतिष देवों की स्थिति बताई गई है।

ज्योतिषक देवों की आयु

नाम	जघन्य आयु	उत्कृष्ट आयु
1. सूर्य	1/4 पल्योपम	1 पल्योपम से कुछ अधिक
2. चन्द्र	1/4 पल्योपम	1 पल्योपम से कुछ अधिक
3. ग्रह	1/4 पल्योपम	1 पल्योपम
4. नक्षत्र	1/4 पल्योपम	1/2 पल्योपम
5. तारा	1/8 पल्योपम	1/4 पल्योपम

|| चतुर्थ अध्याय समाप्त ||

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पंचम अध्याय

* अजीव *

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पंचम अध्ययन

अजीव

दूसरे से चौथे अध्याय तक जीव तत्त्व का वर्णन हुआ। इस पंचम अध्याय में अजीव तत्त्व का वर्णन किया जा रहा है।

अजीव के भेद

अजीव काया धर्मा-ऽधर्मा-ऽऽकाश-पुद्गलाः ।।1।।

सूत्रार्थ : धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल - ये चार अजीवकाय है।

विवेचन : इस सूत्र में अजीव काय के चार भेद बताये हैं। अजीव और अजीवकाय के अभिप्राय में अन्तर है।

अजीवः अजीव का अर्थ है - जिसमें जीव न हो। जिसमें चेतना गुण का पूर्ण अभाव हो, जिसमें ज्ञान उपयोग, जानने की शक्ति न हो, जिसे सुख-दुख की अनुभूति न होती हो। जो सदा काल निर्जीव ही रहता हो, वह जड़ पदार्थ अजीव है।

काय : काय का अर्थ - प्रदेश समूह। यानि जिन द्रव्यों में बहुत से प्रदेश हो वे अस्तिकाय कहलाते हैं।

यहाँ 'अस्ति' शब्द का अर्थ है सत्ता। वे द्रव्य जो अस्तित्ववान है और साथ ही बहुप्रदेशी भी है वे द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ऐसे ही द्रव्य है, जो अस्तिकाय है यद्यपि अजीव द्रव्य पांच है - धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल। काल बहुप्रदेशी नहीं, एक प्रदेशी है। इसलिए काल को अस्तिकाय नहीं माना जाता है। यही कारण से सूत्राकार ने अजीवकाय के चार भेद बताये हैं।

द्रव्य का लक्षण

द्रव्याणि जीवाश्चः ।।2।।

सूत्रार्थ : धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय - ये पाँचों ही द्रव्य है।

विवेचन : द्रव्य का लक्षण तो आगे के सूत्रों में बताया गया है। किन्तु यहाँ पर इतना ही कहा गया है इस जगत में अस्तिकाय रूप पांच मूल द्रव्य है। द्रव्य शब्द में दो अर्थ छिपे हुए है - द्रवणशीलता और ध्रुवता । जगत् का प्रत्येक पदार्थ परिवर्तनशील होकर भी ध्रुव है । इसलिए उसे द्रव्य कहते है। आशय यह है कि प्रत्येक पदार्थ अपने गुणों और पर्यायों को कभी भी उलंघन नहीं करता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नित्या-ऽवास्थितान्यरूपाणि च ।।3।।

सूत्रार्थ : उक्त द्रव्य नित्य है, अवस्थित है और अरूपी है।

विवेचन : धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य नित्य है, वे अपने सामान्य और विशेष स्वरूप से कदापि च्युत नहीं होते। वे स्थिर भी है अर्थात् उनकी संख्या में न्युनाधिकता नहीं होती। स्थिरत्व का अर्थ अवस्थितत्व से है अर्थात् वे सब परिवर्तनशील होने पर भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ते और एक साथ रहते हुए भी दूसरे के स्वभाव से अस्पृष्ट है। जैसे जीव द्रव्य अपने द्रव्यात्मक सामान्य रूप और चेतनात्मक विशेष रूप को कभी नहीं छोडता, यह उसका नित्यत्व है और वह अजीवत्व को प्राप्त नहीं करता यह उसका अवस्थितत्व है। स्वरूप को न त्यागना और पर स्वरूप को न प्राप्त करना ये दो अंश सब द्रव्यों में समान है।

रूपिणः पुद्गलाः ।।4।।

सूत्रार्थ : पुद्गल द्रव्य रूपी है।

विवेचन : पूर्व में धर्म-अधर्म आदि को अरूपी कहा गया है। अरूपी कहने का अर्थ यह है कि उनमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, संस्थान आदि नहीं है। रूप, रस आदि इन्द्रिय ग्राह्य गुण जिसमें हो वह मूर्त या रूपी है। पुद्गल के गुण इन्द्रिय ग्राह्य है इसलिए उसे रूपी कहा गया है अतीन्द्रिय होने से परमाणु आदि सूक्ष्म द्रव्य और उनके गुण इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है, फिर भी विशिष्ट परिणाम रूप अवस्था विशेष में वे इन्द्रिय द्वारा गृहीत होने की योग्यता रखते है। अतः अतीन्द्रिय होते हुए भी वे रूपी हैं। धर्मास्तिकाय आदि अरूपी द्रव्यों में इन्द्रिय विषय बनने की योग्यता ही नहीं है।

द्रव्यों की विशेषता

आ आकाशादेक द्रव्याणि ।।5।।

सूत्रार्थ : आकाश तक एक-एक द्रव्य है।

निष्क्रियाणि च ।।6।।

सूत्रार्थ : तथा निष्क्रिय है।

विवेचन : पांचों द्रव्य में से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय - ये तीनों एक-एक द्रव्य रूप है और साथ ही तीनों निष्क्रिय भी हैं। निष्क्रियता से यहाँ परिणमन शून्यता नहीं समझनी चाहिए, परिणमन तो प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है।

यहाँ निष्क्रियता का अर्थ है गतिशून्यता या क्रिया रहित। ये तीनों द्रव्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जाते। जहाँ है, वहीं स्थिर है, अवस्थित है। साथ ही ये तीनों द्रव्य अखण्ड हैं, एक हैं अविभाज्य और समग्र हैं। जीव और पुद्गल गतिशील और अनंत भी हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यों के प्रदेश

असंख्येयाः प्रदेशा धर्मा-ऽधर्मयोः ।।7।।

सूत्रार्थ : धर्म और अधर्म-द्रव्यों के असंख्यात प्रदेश हैं।

जीवस्य च ।।8।।

सूत्रार्थ : एक-एक जीव द्रव्य के भी असंख्यात प्रदेश हैं।

आकाशस्या-ऽनन्ताः ।।9।।

सूत्रार्थ : आकाश के अनंत प्रदेश हैं।

संख्येया-ऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ।।10।।

सूत्रार्थ : पुद्गल द्रव्य के संख्यात, असंख्यात तथा अनंत प्रदेश भी हैं।

नाणोः ।।11।।

सूत्रार्थ : अणु (परमाणु) के प्रदेश नहीं होते।

विवेचन : प्रस्तुत सूत्र 7 से 11 तक में द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या बताई गई हैं।

प्रदेश अर्थात् एक ऐसा सूक्ष्म अंश जिसके दूसरे अंश की कल्पना भी नहीं की जा सकती या जिसका आगे कोई खंड या टुकड़ा नहीं हो सकता। ऐसे अविभाज्य सूक्ष्म को निरंश-अंश (Partless part) भी कहते है।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय दोनों द्रव्यों के प्रदेश असंख्यात है और दोनों द्रव्य ऐसे अखंड स्कन्ध रूप में है जिनके एक प्रदेश भी स्कन्ध से अलग नहीं किये जा सकते है। वे असंख्यात अविभाज्य सूक्ष्म अंश भी केवल ज्ञान से ही ज्ञात किये जा सकते है।

जीव द्रव्य अनंत है। एक जीव के प्रदेश असंख्यात हैं। धर्म, अधर्म और एक जीव के प्रदेशो की संख्या समान हैं। इनमें से धर्म और अधर्म द्रव्य निष्क्रिय है और संपूर्ण लोकाकाश में फैले हुए हैं। जीव असंख्यात प्रदेश होने पर भी संकोच विस्तार शील होने से कर्म के अनुसार प्राप्त छोटे या बडे शरीर में तत्प्रमाण होकर रहता है।

आकाश द्रव्य अनंतप्रदेश वाला हैं। लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात हैं और अलोकाकाश के प्रदेश अनंत हैं। इसका कारण यह है कि लोकाकाश की अपेक्षा अलोकाकाश अनंत गुणा के एक-एक प्रदेश पर धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय का एक-एक प्रदेश अवस्थित है तथा जिस समय केवली भगवान जब केवली-समुद्घात करते है और अपनी आत्मा को लोक व्यापी बनाते है, उस समय आत्मा का एक-एक प्रदेश भी धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के एक-एक प्रदेश पर अवस्थित हो जाता है। यह स्थिति तभी सम्भव है जब इन चारों द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या समान हो।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुद्गल द्रव्य के स्कन्ध अन्य चार द्रव्यों की तरह नियम रूप नहीं हैं, क्योंकि कोई पुद्गल स्कन्ध संख्यात प्रदेशों का, कोई असंख्यात प्रदेशों का और कोई अनंत प्रदेशों वाला होता है। सूत्र में 'च' शब्द दिया है, उससे अनन्त की अनुवृत्ति हो जाती है।

पुद्गल तथा अन्य द्रव्यों में प्रमुख अन्तर यह है कि पुद्गल के प्रदेश अपने स्कन्ध से अलग हो सकते हैं, किन्तु अन्य द्रव्यों के प्रदेश अपने अपने स्कन्ध से अलग नहीं हो सकते, क्योंकि वे समुच्चय रूप से एक साथ ही रहते है। वे अर्मूत (अरूपी) है और अमूर्त का स्वभाव है खंडित नहीं होना। पुद्गल द्रव्य मूर्त है, मूर्त द्रव्य के खंड हो सकते है वे परमाणु परस्पर मिलते है, एक रूप होते है और फिर अलग-अलग भी हो जाते है। इसी अन्तर के कारण पुद्गल स्कन्ध के छोटे-बडे सभी अंशों को अवयव कहते है। अवयव अर्थात् स्कन्ध का एक भाग जो अलग भी हो सकता है।

परमाणु के प्रदेश नहीं हैं, क्योंकि वह स्वयं एक प्रदेशमात्र है। जिस प्रकार आकाश का एक प्रदेश अन्य प्रदेश न होने से अप्रदेशी है, उसी तरह अणु भी प्रदेशमात्र होने से उसमें अन्य प्रदेश नहीं है। अणु से कोई छोटा भाग नहीं होता, अतः स्वयं ही आदि और अन्त होने से अणु अप्रदेशी है।

छः द्रव्य

नाम	धर्म	अधर्म	आकाश	जीव	पुद्गल	काल
स्वरूप	जीव व पुद्गल को गति में सहायक	जीव व पुद्गल को स्थिति में सहायक	सभी द्रव्यों को अवगाह देना (स्थान)	उपयोग (ज्ञान दर्शन)	सड़ना गलत मिलना बिछुड़ना आदि	सभी द्रव्यों को परिणाम के सहायक
द्रव्य (अर्थात् गुणों का समुह)	✓	✓	✓	✓	✓	✓
अजीव द्रव्य (जिसमें चेतना न हो)	✓	✓	✓	✓	×	✓
जीव द्रव्य (जिसमें चेतना हो)	×	×	×	✓	×	×
काय (बहु प्रदेशी)	✓	✓	✓	✓	✓	×
अजीव काय	✓	✓	✓	×	✓	×
नित्य (कभी नष्ट नहीं होते)	✓	✓	✓	✓	✓	✓
अवस्थित (अपने स्वरूप को नहीं छोडते)	✓	✓	✓	✓	✓	✓
अरूपी या अमूर्त (वर्णादि रहिते)	✓	✓	✓	✓	×	✓

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नाम	धर्म	अधर्म	आकाश	जीव	पुद्गल	काल
रूपी या अमूर्त (वर्णादि सहित)	×	×	×	×	✓	×
निष्क्रिय (क्रिया रहित)	✓	✓	✓	×	×	✓
प्रदेश (जितने क्षेत्र में एक परमाणु रहता है) संख्यात प्रदेश	×	×	×	×	✓	×
असंख्यात प्रदेश	✓	✓	लोकाकाश ✓	एक जीव ✓	✓	×
अनंत प्रदेश	×	×	अलोकाकाश	अनंत जीव ✓	✓	×
द्रव्य की संख्या	एक	एक	एक	अनंत	अनंत	असंख्यात

द्रव्यों का लोक में अवगाह

लोका-SSकाशे-Sवगाहः ।।12।।

सूत्रार्थ : सभी द्रव्य लोकाकाश में रहते हैं।

धर्मSधर्मयोःकृत्स्ने ।।13।।

सूत्रार्थ : धर्म और अधर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हैं।

एक प्रदेशाSSदिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ।।14।।

सूत्रार्थ : पुद्गल द्रव्य एक प्रदेश से लेकर सम्पूर्ण लोकाकाश परिमाण होने योग्य है।

असंख्येय-भागाSSदिषु जीवानाम् ।।15।।

सूत्रार्थ : जीवद्रव्य का अवगाह लोकाकाश के असंख्यात भाग से लेकर समस्त लोकाकाश में है।

प्रदेशसंहार-विसर्गाभ्यां प्रदीपवत् ।।16।।

सूत्रार्थ : क्योंकि दीपक की तरह उनके प्रदेशों का संकोच और विस्तार होता है।

विवेचन : सूत्र 12 से 16 तक द्रव्यों की स्थिति, क्षेत्र का वर्णन किया गया है। अवगाह शब्द का अर्थ है - स्थान ग्रहण करना या स्थान प्रदान करना। धर्मादि सभी द्रव्यों को स्थान प्रदान करना लोकाकाश का कार्य है। लोकाकाश के आधार पर धर्मादि द्रव्य अवस्थित है। यह कथन व्यवहारिक

दृष्टि से है। निश्चय दृष्टि से तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठित अपने अपने स्वरूप में स्थित है। प्रश्न हो सकता है कि जब धर्म आदि चार द्रव्यों का आधार आकाश माना गया है तो आकाश का आधार क्या है? इसका उत्तर यही है कि आकाश का अन्य कोई आधार नहीं है क्योंकि उससे बडा या उसके तुल्य परिमाण का दूसरा द्रव्य नहीं है, जिसमें आकाश आधेय बन सके। अतः सर्वतः यह अनंत आकाश स्वप्रतिष्ठित है।

धर्म अधर्म द्रव्य तिल में तेल की तरह समस्त लोकाकाश में व्याप्त रहते हैं। इसलिए सूत्रकार ने 'कृत्सने' शब्द दिया है। इसका अर्थ होता है व्याप्ति या सम्पूर्णता।

आकाश द्रव्य अनंत है । किन्तु जहाँ तक धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय रहते हैं वहाँ तक लोकाकाश है और उससे आगे तो अनंत अलोकाकाश है।

जीव और पुद्गल द्रव्य में स्वाभाविक गतिक्रिया होती है। वे अपना स्थान बदलते रहते हैं। किन्तु धर्म-अधर्म द्रव्य स्थित है, उनमें गति क्रिया नहीं है इसलिए लोक की मर्यादा का विभाग उन्हीं से होता हैं।

पुद्गलों की स्थिति लोकाकाश के एक प्रदेश से लेकर असंख्यात प्रदेशों में है। कोई पुद्गल लोकाकाश के एक प्रदेश में और कोई दो प्रदेशों में रहता है। कोई पुद्गल असंख्यात प्रदेश परिमित लोकाकाश में भी रहता है। एक परमाणु एक ही आकाश प्रदेश में स्थित रहता है परन्तु दो परमाणुओं से बना हुआ द्वयणुक तीन परमाणुओं से बना हुआ त्र्यणुक आदि यहाँ तक संख्यात, असंख्यात अनंत और अनन्तानन्त परमाणुओं का स्कन्ध आकाश के एक प्रदेश पर भी स्थित रह सकता है, दो प्रदेशों पर भी और असंख्यात प्रदेशों पर भी।

यद्यपि पुद्गल द्रव्य अनन्तानंत और मूर्त है तथापि उनका लोकाकाश में समा जाने का कारण यह है कि पुद्गलों में सूक्ष्म रूप से परिणत होने की शक्ति हैं। इस सूक्ष्म परिणमन शक्ति के कारण वे स्कन्ध न किसी को बाधा पहुँचाते हैं और न स्वयं ही किसी अन्य द्वारा बाधित होते है। जैसे एक ही कमरे में हजारों दीपकों का प्रकाश व्याघात के बिना समा जाता है। उसी प्रकार एक प्रदेश में भी अनंत परमाणु वाला स्कन्ध भी अतिसूक्ष्म परिणमन के कारण रह जाते हैं।

एक जीव का अवगाह लोक के असंख्यातवें भाग में होता है और सम्पूर्ण लोक में भी। एक जीव का सम्पूर्ण लोक में अवगाह तो सिर्फ केवली समुदघात के समय होता है। शेष सभी अवस्थाओं में एक जीव का अवगाह लोक के असंख्यात भाग में ही होता है। जीव कभी भी असंख्य आकाश प्रदेश में ही रहता है।

संसारी अवस्था में जीव के साथ कार्मण और तैजस् शरीर अवश्य होते है और इन्हीं के आकार परिणाम के अनुसार औदारिक शरीर होता है । इन्हीं शरीरों के आकार के अनुसार अपने प्रदेश का संकोच अथवा विस्तार करता है।

सूत्र में दीपक के प्रकाश की आत्म प्रदेशों के साथ संकोच विस्तार की उपमा दी गई है। दीपक को यदि कमरे में रख दिया जाय तो उसका प्रकाश पूरे कमरे में फैलेगा और यदि किसी पात्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से ढ़क दिया जाय तो वह सम्पूर्ण प्रकाश पात्र के अल्प क्षेत्र में ही सीमित होकर रह जायेगा। इसी प्रकार जीव-प्रदेश भी छोटे-बडे शरीर के अनुसार संकोच और विस्तार कर लेते है।

लोक में द्रव्यों का रहने का स्थान

	धर्म	अधर्म	आकाश	जीव	पुद्गल
एक द्रव्य	समस्त लोक में (तिल में तेल जैसे)	समस्त लोक में (तिल में तेल जैसे)	---	लोक के असंख्यातवां का भाग (सभी जीव) संपूर्ण लोकाकाश (केवली समुदघात)	एक प्रदेश (अणु और सूक्ष्म स्कन्ध) संख्यात प्रदेश असंख्यात प्रदेश अनंत प्रदेश
सर्व द्रव्य	संपूर्ण लोकाकाश	संपूर्ण लोकाकाश	---	संपूर्ण लोकाकाश	संपूर्ण लोकाकाश

जीव और पुद्गल के आकाश के अल्प प्रदेशों में रहने का कारण

जीव

दीपक की तरह प्रदेश संकोच विस्तार शक्ति।

पुद्गल

★ सूक्ष्म परिणमन होने की शक्ति।

★ एक दूसरे को अवगाह देने की शक्ति।

★ व्याघातरहितता।

द्रव्यों के कार्य और लक्षण:

गति-स्थित्युपग्रहौ धर्मा-ऽधर्मयो-रूपकारः ।।17।।

सूत्रार्थ : गति और स्थिति में निमित बनना क्रमशः धर्म और अधर्म द्रव्यों का कार्य है।

विवेचन : इस सूत्र में धर्मा और अधर्म के गुण व लक्षण बताये गये हैं।

धर्मास्तिकाय : जो जीव और पुद्गल की गति (चलने) में उदासीन भाव से सहायक होता है

उसे धर्मास्तिकाय कहते हैं। जिस प्रकार मछली को तैरने में जल सहायक होता है अथवा वृद्ध पुरूष को चलने में दण्ड सहायक होता है। उसी तरह जीव और पुद्गल की गति क्रिया में निमित्त होनेवाला द्रव्य धर्मास्तिकाय है।

गति की शक्ति तो द्रव्य में अपनी रहती है, परंतु धर्म द्रव्य उसे चलाने में सहायक होता है। जैसे मछली स्वयं तैरती है तथापि उसकी वह क्रिया पानी के बिना नहीं हो सकती। पानी के अभाव में तैरने की शक्ति होने पर भी वह नहीं तैर सकती। इसका अर्थ है कि पानी तैरने में सहायक है। यदि वह न तैरना चाहे तो पानी उसे प्रेरणा नहीं देता।

अधर्मास्तिकाय : जीव और पुद्गल की स्थिति (ठहरने) में उदासीन भाव से सहायक होने वाला द्रव्य अधर्मास्तिकाय कहा जाता है। जैसे वृक्ष की छाया पथिक के लिए ठहरने में निमित्त कारण होती है। इसी तरह अधर्मास्तिकाय जीव और पुद्गल की स्थिति में सहायक होता है।

धर्म और अधर्म द्रव्यों का उपकार

जीव और पुद्गल के गति और स्थिति में			
1.	**उपादान कारण**	-	जीव-पुद्गल स्वयं
2.	**अंतरंग निमित्त**	-	क्रियावती शक्ति
3.	**बहिरंग निमित्त**	-	धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय
a)	**साधारण कारण**	-	उदासीन भाव से सहायक, और अप्रेरक-धर्म और अधर्म द्रव्य
b)	**विशेष कारण**	-	पानी, दंड, छाया आदि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आकाश का उपकार

आकाशस्या-ऽवगाहः ।।18।।

सूत्रार्थ : स्थान प्रदान करना आकाश द्रव्य का कार्य है।

विवेचन : आकाशास्तिकाय : अवगाह प्रदान करना अर्थात् स्थान देना आकाश का लक्षण है। जो द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल को स्थान या आश्रय देता है उसे आकाशास्तिकाय कहते है। जैसे दूध शक्कर को अवगाह देता है अथवा भींत खूंटी को अवगाह देती है। यह सब द्रव्यों का आधार भूत है।

पुद्गल का उपकार

शरीर-वाङ्-मन-प्राणा-ऽपानाःपुद्गलानाम् ।।19।।

सूत्रार्थ : शरीर, वाणी, मन, श्वासोश्वास -ये पुद्गल द्रव्यों के उपकार हैं।

सुख-दुख-जीवित-मरणोपग्रहाश्च ।।20।।

सूत्रार्थ : सुख-दुख, जन्म-मरण भी पुद्गल द्रव्यों के उपकार हैं।

विवेचन : 'पुद्गल' शब्द में दो पद है - पुद् और गल। पुद का अर्थ है पूरा होना या मिलना और गल का अर्थ है - गलना या मिटना। जो द्रव्य प्रतिपल, प्रतिक्षण मिलता-बिछुड़ता रहे, बनता-बिगड़ता रहे, टूटता-जुड़ता रहे, वही पुद्गल है।

पुद्गल द्रव्य के विभिन्न प्रकार से परिणमन होते रहते है। अतएव उनके कार्य भी अनेक प्रकार के होते हैं। उनमें से कुछ कार्यो का यहाँ उल्लेख किया जाता है जैसे शरीर, वाणी, मन श्वासोच्छ्वास, सुख-दुख, जन्म, मरण आदि।

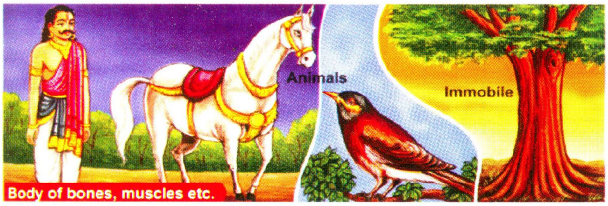

शरीर : शरीर निर्माण का कारण पुद्गल है । औदारिक वर्गणा से औदारिक शरीर वैक्रिय वर्गणा से वैक्रिय शरीर, आहारक वर्गणा से आहारक शरीर, तेजोवर्गणा से तैजस शरीर और कर्म वर्गणा से कार्मण शरीर बनता है। अतः पांचों शरीर पौदगलिक ही है।

भाषा : भाषावर्गणा वाणी का निर्माण करती है। भाषा दो प्रकार की होती है - a) भावभाषा और b) द्रव्यभाषा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

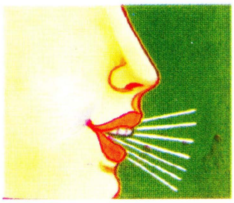

भावभाषा तो वीर्यान्तराय, मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नाम कर्म के उदय से प्राप्त होनेवाली जीव की एक विशिष्ट शक्ति है जो पुद्‌गल सापेक्ष होने से पौद्‌गलिक है। ऐसी शक्तिमान आत्मा से प्रेरित होकर वचन रूप में परिणत होनेवाले भाषावर्गणा के स्कन्ध ही द्रव्य भाषा है। इस प्रकार भाषा पुद्‌गल का कार्य है।

मन : मनोवर्गणा से मन का निर्माण होता है। मन दो प्रकार का हैं- a) द्रव्यमन और b) भाव मन।

गुण-दोष विचार या लब्धि और उपयोग लक्षण भाव मन पुद्‌गलों के आलम्बन से होता है, इसलिए पौद्‌गलिक है। आत्मा के ज्ञानावरणीय वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से आलम्बन बननेवाले या सहायक जो पुद्‌गल शक्ति विशेष से युक्त होकर मन रूप से परिणत होते है वे द्रव्य मन है।

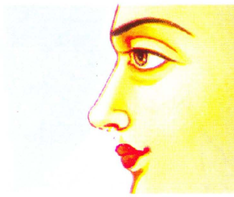

श्वासोश्वास : जीव द्वारा उदर से बाहर निकाला जानेवाला नि:श्वास वायु और उदर के भीतर पहुँचाया जाने वाला उच्छ्‌वास वायु ये दोनों पौद्‌गलिक है और जीवन पद होने से आत्मा के उपकारी है।

सुख-दुख : सुख और दुख जो जीव अनुभव करता है, उनका अंतरंग कारण सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्म है, जो स्वयं पौद्‌गलिक है। कोमल स्पर्श गर्मियों में ठंडी हवा आदि भी मन को सुख देते है। इसी प्रकार रूक्ष और कठोर स्पर्श तथा तीखे काँटे आदि भी दुख की अनुभूति कराते है। ये सब बाह्य कारण है।

जीवन-मरण : आयुष्य कर्म के उदय से देहधारी जीव के प्राण और अप्राण का चलते रहना जीवन है और प्राणापान का उच्छेद हो जाना मरण है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुद्गल का उपकार

शरीर	भाषा		मन		श्वासोश्वास	
पांच प्रकार	द्रव्य	भाव	द्रव्य	भाव	नि:श्वास	उच्छ्वास
औदारिकादि वर्गणा के कारण	वचन रूप भाषा वर्गणा के स्कन्ध	वीर्यान्तराय, मति और श्रुत ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम तथा अंगोपांग नाम कर्म के उदय	ज्ञानावरणीय, वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से मनोवर्गणा के स्कन्ध	गुण दोष विचार या लब्धि और उपयोग लक्षण	उदर से बाहर निकाले जानेवाला वायु	उदर के भीतर पहुँचाया जानेवाला वायु

पुद्गल का उपकार

सुख		दुख		जीवन	मरण
अंतरंग	बाह्य	अंतरंग	बाह्य	आयुष्य कर्म का बने रहना	आयुष्य कर्म का समाप्त होना
सातावेदनीय कर्म	गर्मियों में ठंडी हवा या कोमल स्पर्श	असाता वेदनीय कर्म	रूक्ष और कठोर स्पर्श		

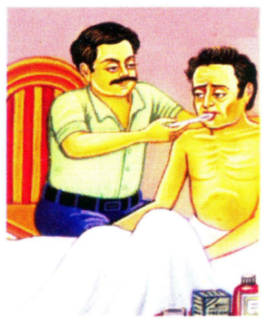

जीव का उपकार

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ।।21।।

सूत्रार्थ : परस्पर के कार्य में निमित्त होना जीवों का उपकार है।

विवेचन : परस्पर एक दूसरे के लिए निमित्त बनना जीव का उपकार है। एक जीव हित-अहित के उपदेश द्वारा दूसरे जीव पर उपकार करता है। मालिक पैसे देकर नौकर पर उपकार करता है और नौकर सेवा करके या

हित-अहित की बातों के द्वारा मालिक पर उपकार करता है। संसार का प्रत्येक प्राणी एक दूसरे के उपकार या सहयोग पर आश्रित है।

काल का उपकार

वर्तना परिणामः क्रिया परत्वा-ऽपरत्वे च कालस्य ।।22।।

सूत्रार्थ : वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व-ये काल द्रव्य के उपकार हैं।

वर्तना : परिवर्तन का स्वभाव! यद्यपि प्रत्येक द्रव्य अपनी निजी शक्ति से पर्याय रूप परिणमन करता है, नया-नया पर्याय धारण करता है, किन्तु काल उसमें निमित्त कारण बनता है। जैसे शरीर का जवानी से बुढ़ापे की ओर बढ़ना ये वर्तना है।

परिणाम : द्रव्य का अपने स्वभाव को छोड़े बिना, अन्य पर्याय रूप में बदल जाना परिणाम है। जैसे बुढ़ापा आ गया।

क्रिया : क्रिया का अभिप्राय यहाँ गति है। एक क्षेत्र से अन्य क्षेत्र में गमन करना वह क्रिया है। क्रिया जीव और पुद्गल की होती है अन्य द्रव्यों की नहीं।

परत्व-अपरत्व : ज्येष्ठत्व परत्व है और कनिष्ठता अपरत्व है। यह तीन प्रकार का हैं-

1. **प्रशंसाकृत :** जैसे धर्म महान है, अधर्म निकृष्ट है।

2. **क्षेत्रकृत :** अमुक स्थान निकट और अमुक स्थान दूर है।

3. **कालकृत :** राम की आयु 10 वर्ष है और श्याम की आयु आठ वर्ष। अतः राम श्याम से ज्येष्ठ है तथा श्याम राम की अपेक्षा कनिष्ठ है।

काल का उपकार

- **वर्तना** — परिणमन में निमित्त
- **परिणाम** — पर्याय
- **क्रिया** — गति
- **परत्व** — ज्येष्ठता
- **अपरत्व** — कनिष्ठता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

छः द्रव्यों का उपकार

द्रव्य	धर्म	अधर्म	आकाश	जीव	पुद्गल	काल
कार्य	गति	स्थिति	अवगाहना	परस्पर एक दूसरे का उपकार	शरीर वाणी मन श्वासोश्वास सुख दुख जीवन मरण	वर्तना, परिणमन, क्रिया, परत्व अपरत्व
किस द्रव्य पर	जीव और पुद्गल पर	जीव और पुद्गल पर	सभी द्रव्यों पर	जीव का जीव पर	जीव पर	सभी द्रव्यों पर

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्तः पुद्गलाः ।।23।।

सूत्रार्थ : स्पर्श, रस, गंध और वर्णवाले पुद्गल होते हैं।

शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश्छाया-ऽऽतपोद्योतबन्तश्च ।।24।।

सूत्रार्थ : तथा वे शब्द, बन्ध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योत वाले भी होते हैं।

विवेचन : पुद्गल के मुख्य चार गुण है- स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण। पुद्गल के प्रत्येक परमाणु में ये चारों गुण होते हैं। इन चार गुणों के परिणमन स्वरूप पुद्गल के बीस गुण होते हैं जो इस प्रकार है -

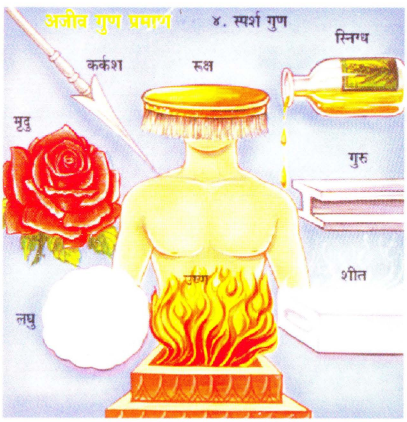

स्पर्श : जो स्पर्श किया जाता है उसे स्पर्श कहते है। यह आठ प्रकार का हैं - 1. कठीन (कठोर), 2. कोमल (मृदु), 3. भारी (गुरू), 4. हल्का (लघु), 5. शीत (ठंडा), 6. उष्ण (गर्म), 7. चिकना (स्निग्ध), और 8. रूखा (रूक्ष)।

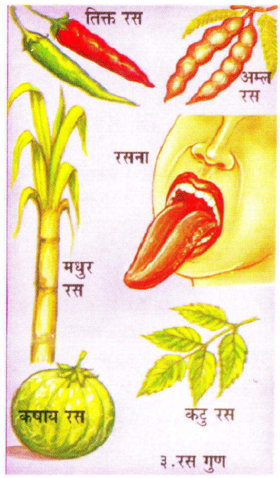

रस : जो स्वाद रूप होता है उसे रस कहते हके। यह पाँच प्रकार का हैं - 1. तीखा (तीक्त), 2. कडवा (कटु), 3. कसैला (कषाय), 4. खट्टा (अम्ल) और 5. मीठा (मधुर)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गंध : जो सुंघा जाता है उसे गंध कहते है। यह दो प्रकार का है - 1. सुरभि (सुगन्ध) और 2. दुरभि (दुर्गन्ध)

वर्ण : जो वर्ण वाले होते हैं। यह पाँच प्रकार का हैं - 1. कृष्ण (काला), नील (नीला), 3. रक्त (लाल), 4. पीत (पीला) और 5. शुक्ल (श्वेत-सफेद)।

इन बीस भेदों के भी प्रत्येक के संख्यात, असंख्यात और अनंत भेद तरतमभाव से होते हैं।

पुद्गलों के असाधारण पर्याय

शब्द : एक स्कन्ध के साथ दूसरे स्कन्ध टकराने से जो ध्वनि समुत्पन्न होती है, वह शब्द है। शब्द श्रोत्रोन्द्रिय का विषय है। शब्द के दो प्रकार हैं।

1. स्वाभाविक और 2. प्रायोगिक

1. स्वाभाविक शब्द : ऐसे शब्द जो सहज ही होते है, जिनकी उत्पत्ति में जीव का कोई प्रयत्न नहीं करना होता है। अत: अप्रयत्न जन्य शब्द को स्वाभाविक शब्द कहते है। जैसे बादलों की गर्जना।

2. प्रायोगिक शब्द : जो शब्द जीव के प्रयत्न पूर्वक होते है, उन्हें प्रायोगिक शब्द कहते हैं। यह दो प्रकार का हैं।

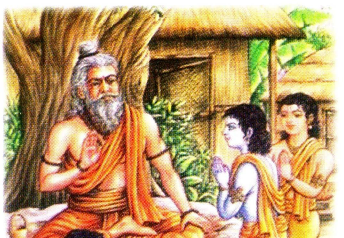

1. भाषात्मक शब्द और 2. अभाषात्मक शब्द

1. भाषात्मक शब्द : जो शब्द भाषा के रूप में अभिव्यक्त होते है। वे भाषात्मक शब्द कहलाते है। जैसे अध्यापक कक्षा में पढ़ा रहा है, उसके शब्द भाषात्मक है। इसके भी दो भेद हैं।

अ. अक्षरात्मक और आ. अनक्षारात्मक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

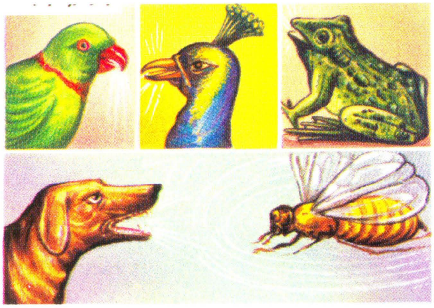

जो अक्षर रूप में बोले एवं लिखें जाते हैं, वे अक्षरात्मक शब्द है। मनुष्य व्यवहार में आनेवाली अनेक प्रकार की बोलियाँ। और जो अक्षर रूप में नहीं होते है वे अनक्षरात्मक शब्द है। जैसे पशु पक्षियों की भाषा, मनुष्य के संकेत वचन आदि।

2. अभाषात्मक शब्द : जो शब्द भाषा के रूप में अभिव्यक्त न होते है अर्थात् वाद्य यंत्रों से जो ध्वनि उत्पन्न होती है, वे अभाषात्मक कहलाते हैं। इसके चार भेद हैं -

a) **तत्** : चमडे से बने तबला, ढोलक, मृदंग आदि से उत्पन्न होने वाले शब्द को तत् कहते हैं।

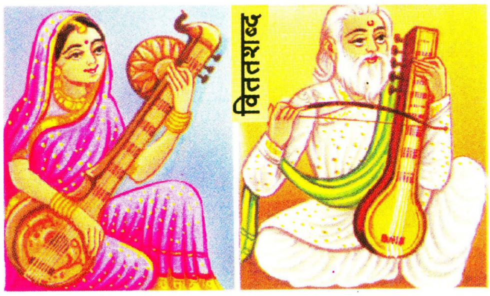

b) **वितत** : तार वाले वाद्य वीणा, सितार आदि से पैदा होने वाला शब्द वितत हैं।

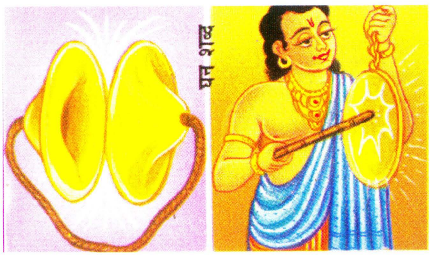

c) **घन** : घण्टा, ताल आदि ठोस द्रव्यों से उत्पन्न ध्वनि का धन कहते हैं।

d) **शुषिर** : फूंककर बजाये जाने वाले शंख, बांसुरी आदि से पैदा होने वाले शब्द को शुषिर कहते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शब्द (ध्वनि)

- **स्वाभाविक** (अप्रयत्न जन्य) बादलों की गर्जन
- **प्रायोगिक** (प्रयत्न जन्य)
  - **भाषात्मक** (भाषा रूप में अभिव्यक्त) (आध्यापक कक्षा में पढ़ा रहा है)
    - **अक्षरात्मक** (अक्षर रूप) मनुष्य व्यवहार में आनेवाली बोलियाँ
    - **अनक्षरात्मक** (अक्षर रूप नहीं) (पशु पक्षी की भाषा, या संकेत, खांसी आदि)
  - **अभाषात्मक** (भाषा रूप में अभिव्यक्त नहीं) (वाद्य यंत्रों से जो ध्वनि)
    - **तत्** – चमडे में बने ढोलक, तबला आदि
    - **वितत** – तार वोल वीणा सीतार आदि
    - **धन** – घंटा, ताल आदि ठोस पदार्थ
    - **शुषिर** – शंख, बाँसुरी आदि फूंककर

एक अन्य अपेक्षा से शब्द के तीन भेद किये गये है जो इस प्रकार है -

शब्द

सचित्त शब्द	अचित्त् शब्द	मिश्र शब्द
(जीव के मुख से निकले)	(पाषाणादि दो पदार्थों के परस्पर टकराने से)	जीव के प्रयास से बजने वाली वीणा, बासुरी आदि की आवाज

2. बन्ध : पुद्गलों के पारस्परिक सम्बन्ध को बंध कहते हैं। यह बन्ध दो प्रकार का हैं- a. वैस्रसिक - स्वभाव-जन्य और b. प्रयोगिक - प्रयोग जन्य बन्ध।

a) वैस्रसिक बन्ध : यह बन्ध सहज होता है। इसके लिए जीव के किसी प्रकार के प्रयत्न की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यकता नहीं पड़ती है। आकाश में बादलों की घटा बनती हैं, इन्द्रधनुष भी बनता है। ये सहज ही बनते हैं, इसलिए इस बन्ध को वैस्रसिक कहा जाता हैं। यह बन्ध सादि और अनादि दोनों प्रकार का होता है। जीव और पुद्‌गलों के बीच में जो सम्बन्ध है वह अनादि है। सादि बन्ध केवल पुद्‌गलों का होता हैं।

b) प्रायोगिक बन्ध : प्रायोगिक बन्ध सहज नहीं है। यह जीव प्रयत्नजनित है। इसके लिए प्रयास करना पड़ता है। दर्जी कपडे सिता है, कारीगर इमारत बनाता है, इसमें विभिन्न तत्वों का जो सम्बन्ध है, वह प्रयत्न द्वारा होता है। यह बन्ध सादि और सांत है।

बन्ध (पुद्‌गलों का पारस्परिक सम्बन्ध)

वैस्रसिक	प्रायोगिक
(स्वभाव जन्य)	(प्रयत्न जन्य)
इन्द्रधनुष, बादलों की घटा आदि	इमारत बनाना, कपड़े सिलना आदि
आदि और अनादि	सादि और सांत

3. सूक्ष्मत्व : सूक्ष्मता का अर्थ छोटापन है। यह दो प्रकार का है। a) अन्त्य (चरम) सूक्ष्मता और b) आपेक्षित सूक्ष्मता।

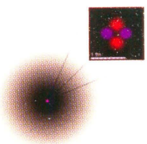

a) अन्त्य या चरम सूक्ष्मता : सूक्ष्मता की वह चरम स्थिति जिसका खण्ड फिर से नहीं किया जा सकता। जैसे परमाणु

b) आपेक्षिक सूक्ष्मता : इसमें किसी अपेक्षा से सूक्ष्मता का आकंलन होता है। दो छोटी बड़ी वस्तुओं में तुलनात्मक दृष्टि पाई जाती है। जैसे आम से आंवला छोटा है और आँवले से अंगूर छोटा है।

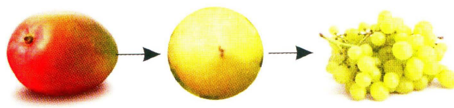

सूक्ष्मता (छोटापन)

अन्त्य सूक्ष्मता	आपेक्षिक सूक्ष्मता
जिसका खंड नहीं किया जा सके (परमाणु)	छोटी-बडी वस्तुओं में तुलनात्मक दृष्टि (आम-आँवला-अंगूर)

4. स्थूलत्व : स्थूलता का अर्थ मोटापन है। यह भी दो प्रकार हैं। a) अन्त्य (चरम) स्थूलता और b) आपेक्षिक स्थूलता।

a) अन्त्य स्थूलता : सबसे बड़ा स्कन्ध। ऐसा स्कन्ध संपूर्ण लोक व्यापी महास्कन्ध होता है।

b) आपेक्षिक स्थूलता : अपेक्षा से स्थूलता को व्यक्त करना ही आपेक्षिक स्थूल है। आम की अपेक्षा खरबूज स्थूल और खरबूज की अपेक्ष तरबूज स्थूल है।

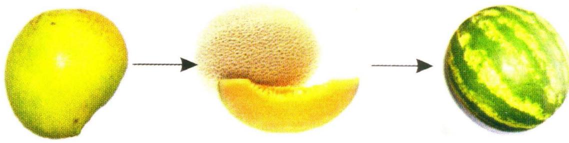

स्थूलता (मोटापन)

अन्त्य स्थूलता
सबसे स्थूल स्कन्ध
महास्कन्ध

आपेक्षिक स्थूलता
अपेक्षा से स्थूल
आम-खरबुज-तरबुज

5. संस्थान : संस्थान का अर्थ आकार, रचना-विशेष है। परमाणुओं के संयोग-वियोग से विभिन्न प्रकार से जो आकृति बनती है, उसे संस्थान कहते हैं। यह भी दो प्रकार का हैं।

a) इत्थंसंस्थान और b) अनित्थं संस्थान

a) इत्थंसंस्थान : जिसके विषय में यह संस्थान इस प्रकार का है। यह निर्देश किया जा सके वह इत्थंलक्षण संस्थान है। गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि ये सब इत्थंलक्षण संस्थान है।

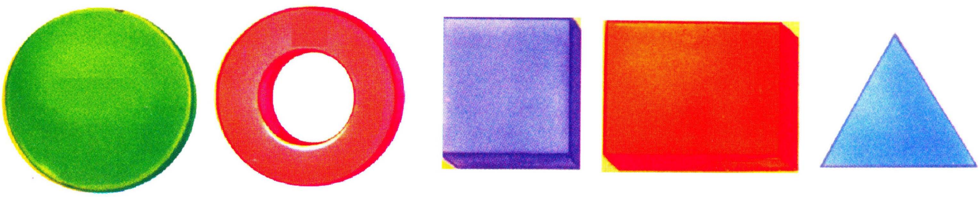

b) अनित्थं संस्थान : मेघ आदि के आकार जो कि अनेक प्रकार के है और जिनके विषय में यह इस प्रकार का है ऐसा नहीं कहा जा सकता वह अनित्थं संस्थान है।

संस्थान (आकार)

इत्थं संस्थान
निश्चित आकार
गोल व त्रिकोण आदि

अनित्थं संस्कार
अनिश्चित आकार
बादल आदि

Jain Education International
For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

6. भेद : भेद का अर्थ विश्लेषण अथवा प्रथक्करण है। जब कुछ परमाणु अपने स्कन्धों से टूटकर अलग होते हैं तो उन्हें भेद कहते हैं। यह पांच प्रकार का हैं

a. उत्कर, b. चूर्ण, c. खंड, d. प्रतर, और e. अनुचटन

a. उत्कर : आरी से लकडी के चीरने को उत्कर कहा गया है।

b. चूर्ण : गेहूं आदि का आटे के रूप में परिवर्तित होना चूर्ण है।

c. खण्डं : धडे आदि का टुकड़े-टुकड़े होकर टूट जाना खंड है।

d. प्रतर : बादल के अलग अलग पटल का होना प्रतर है।

e. अनुचटन : गरम लोहे पर चोट करने से जो चिनगारी अलग होकर निकलती है, उसे अनुचटण कहते हैं। या आम, संतारा आदि फल को छीलकर उसके फल तथा छिलके को अलग अलग कर देना।

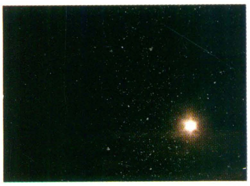

7. तम : तम अर्थात् अन्धकार। जो देखने में बाधक हो और प्रकाश का विरोधी हो वह अन्धकार है।

8. छाया : प्रकाश पर आवरण पड़ जाने पर छाया उत्पन्न होती है।

इसके दो प्रकार है - अ. तद्वर्णपरिणत और आ. प्रतिबिंब

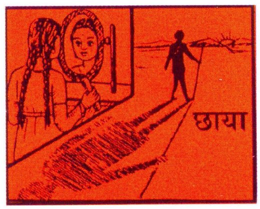

a) दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थों में पड़नेवाला बिम्ब जिसमें मुखादि का वर्ण आकार आदि ज्यों का त्यों दिखाई देता है।

b) प्रतिबिंब : अन्य अस्वच्छ वस्तुओं पर पडनेवाली परछाई प्रतिबिंब रूप छाया है।

छाया
(प्रकाश को ढ़कले वाली)

- **तद्वर्ण परिणत** (दर्पण में)
- **प्रतिबिंब** (परछाई)

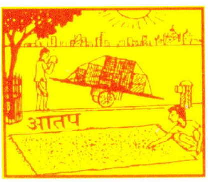

9. आतप : शीत वस्तु का उष्ण प्रकाश आतप कहलाता है। यह स्वयं ठंडा होता है और उसकी प्रभा गरम होती है। जैसे सूर्य का विमान, सूर्य कान्तादि रत्न।

10. उद्योत : शीत पदार्थ के शीत प्रकाश को उद्योत कहते है। चंद्र, ग्रह, नक्षत्र आदि पदार्थ तथा जुगनु आदि के शीतल प्रकाश को उद्योत कहते हैं।

आतप	**उद्योत**
↓	↓
स्वयं ठंडा और प्रभा गरम	स्वयं ठंडा और प्रभा भी ठंडी
↓	↓
सूर्य का विमान, सूर्यकान्तादि रत्न	चंद्र, ग्रह, जुगनु आदि

अणवः स्कन्धाश्च ।।25।।

सूत्रार्थ : पुद्‌गल के दो भेद हैं - परमाणु और स्कन्ध।

विवेचन : पुद्‌गल के प्रमुख दो भेद हैं - अणु और स्कन्ध! पुद्‌गल द्रव्य का वह छोटे से छोटा सूक्ष्मतम अंश जिसका फिर विभाग न हो सके, जो इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है, जो नित्य है तथा किसी एक रस, एक गंध, एक वर्ण और दो स्पर्श से युक्त होता है । उसे परमाणु कहते हैं।

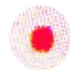

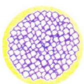

स्कन्ध दो या दो से अधिक संख्यात, असंख्यात, अनंत परमाणु के पिण्ड को स्कन्ध कहते हैं।

पुद्‌गल के भेद

परमाणु	**स्कन्ध**
पुद्‌गल का अविभाव्य सूक्ष्मतम अंश	(दो या दो से अधिक परमाणुओं का समूह)

स्कन्ध और अणु की उत्पत्ति के कारण

संघात-भेदेभ्य उत्पद्यन्ते ।।26।।

सूत्रार्थ : संघात (जुडने), भेद (पृथक-पृथक) और संघात भेद (जुडने और पृथक होने) - इन तीनों में से किसी भी एक कारण से स्कन्ध की उत्पत्ति होती हैं।

भेदादणुः ।।27।।

सूत्रार्थ : स्कन्धों का भेद होने पर अणु की उत्पत्ति होती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन : स्कन्ध तीन प्रकार से बनता है - 1. भेद जन्य 2. संघात जन्य और 3. भेद और संघात जन्य।

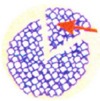

भेद जन्य : किसी बडे स्कन्ध के टूटने से जो छोटे-छोटे स्कन्ध होते है, वे भेद जन्य है। जैसे 100 परमाणुओं का स्कन्ध है। उसमें से 10 परमाणु अलग हो जाने से 90 परमाणुओं का स्कन्ध बना।

संघात जन्य : कम से कम दो परमाणु मिलते है तब द्विप्रदेशिक स्कन्ध होता है, यह संघात जन्य स्कन्ध है। इसी प्रकार त्रिप्रदेशिक यावत् अनन्तानन्त प्रदेशिक स्कन्ध संघातजन्य स्कन्ध है। जैसे 100 परमाणुओं में 10 परमाणुओं और मिलने पर 110 स्कन्ध परमाणुओं का स्कन्ध बना।

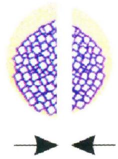

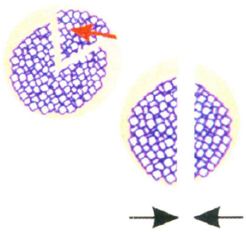

भेद संघात जन्य : जब किसी एक स्कन्ध के टूटने पर उसके अभाव के साथ उसी समय दूसरा कोई द्रव्य मिल जाने से नया स्कन्ध बनता है वह भेदसंघात जन्य कहलाता है। जैसे 100 परमाणुओं के स्कन्ध में से 10 परमाणु अलग हो गये और उसी समय अलग 15 परमाणु मिल जाने से 105 परमाणुओं का स्कन्ध बना, वह भेदसंघात जन्य स्कन्ध है। अणु की उत्पत्ति स्कन्ध के भेद से ही होती है संघात से नहीं।

भेद-संघाताभ्यां चाक्षुषा: ||28||

सूत्रार्थ : भेद और संघात से चाक्षुष स्कन्ध बनते हैं।

विवेचन : भेद और संघात इन दोनों क्रियाओं से उत्पन्न स्कन्ध ही चक्षुन्द्रिय से देखा जा सकता है।

पुद्गल परिणाम अति विचित्र और असंख्यात प्रकार का है। यह आवश्यक नहीं कि असंख्यात या अनन्त पुद्गल परमाणुओं द्वार निर्मित स्कन्ध दृष्टिगोचर होते ही हैं। महास्कन्ध भी सूक्ष्म होता है वह दिखाई नहीं देता।

वास्तव में स्थूलता और सूक्ष्मता पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं। जब पुद्गल स्कन्ध सूक्ष्म पर्याय रूप परिणमन करते है तो दिखाई नहीं देते और जब वे स्थूल पर्याय रूप में परिणमन करते हैं तो दिखाई देने लगते हैं।

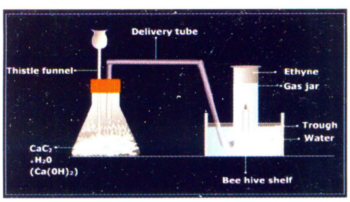

एक उदाहरण ले। हाइड्रोजन एक गैस है, ऑक्सीजन भी एक गैस है। ये दोनों सामान्यता दिखाई नहीं देते हैं। किन्तु जब हाइड्रोजन के दो अणु और ऑक्सीजन का एक अणु मिलते है, तो पानी बनकर दिखाई देते है शास्त्रीय भाषा में इसे यो कहा जा सकता है -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के रूप में पुद्गल सूक्ष्म पर्यायरूप परिणमन कर रहे थे, वे अब पानी के रूप में स्थूल पर्यायरूप परिणमन करने लगे है। अतः आचुक्षष स्कन्ध निमित्त पाकर चाक्षुष बन सकता है, इसीका निर्देश इस सूत्र में किया है।

स्कन्धादि की उत्पत्ति के कारण

- **स्कन्ध**
  - भेद (अलग होना)
  - संघात (मिलना)
  - भेद संघात (दोनों एक साथ)
- **परमाणु**
  - भेद से ही
- **चाक्षुष स्कन्ध**
  - भेद संघात से ही

द्रव्य (सत्) का विवेचन

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत् ||29||

सूत्रार्थ : जो उत्पाद (उत्पत्ति), व्यय (विनाश) और ध्रौव्य (स्थिरता) से युक्त है, वह सत् है।

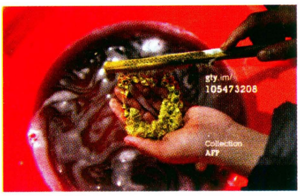

सत् का अर्थ है विद्यमानता से युक्त सत्ता, अस्तित्व, अवस्थिति आदि। यहाँ सत् का लक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव बतलाया है। नवीन अवस्थाओं की उत्पत्ति और पुरानी अवस्थाओं का विनाश होते रहने पर भी अपने स्वभाव का त्याग नहीं करना सत् है। जैसे सोने के कुण्डल तुडवाकर हार बनवाया जाना। कुण्डल रूप पर्याय का विनाश और हार रूप पर्याय का उत्पाद होते हुए भी सोने की अपेक्षा सोना स्थिर है, ध्रुव है।

इस प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की प्रक्रिया, प्रत्येक वस्तु अथवा द्रव्य में निरन्तर चलती ही हैं और वही सत् है।

तद्भावाव्ययं नित्यम् ||30||

सूत्रार्थ : जो अपने भाव से (जाति से) च्युत न हो वहीं नित्य है।

विवेचन : यह वही है, जो पहले था इस प्रकार की अनुभूति अथवा प्रतिबोध का होना तद्भाव है। साधारण शब्द में इसे स्वभाव कहते है। तद्भाव या स्वभाव सदा ध्रुव रहता है, उसका कभी नाश नहीं होता, स्थिर है सदाकाल रहने वाला है।

पर्यायों के उत्पत्ति विनाश होते रहने पर भी जो द्रव्य को उसके अपने निजी रूप में बनाये रखता है, वह तद्भाव है, वस्तु की ध्रुवता है और इस कारण सत्ता अपने स्वभाव से च्युत नहीं होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्पिता-ऽनर्पित-सिद्धेः ।।31।।

सूत्रार्थ : प्रधानता और गौणता के द्वारा वस्तु की सिद्धि होती है।

विवेचन : अर्पित-अनर्पित का अर्थ है मुख्य और गौण। मुख्य और गौण भाव से अथवा अपेक्षा या अनपेक्षा से वस्तु तत्त्व की सिद्धि होती है। वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। यदि उसका वर्णन किया जाए तो एक समय में किसी एक धर्म या गुण का ही वर्णन संभव है।

इसका अभिप्राय यह नहीं कि वस्तु में अन्य गुण या धर्म नहीं है। अपितु इसका अभिप्राय यह है कि इस समय जिसका वर्णन किया जा रहा है, वह गुण प्रधान (मुख्य) है। और शेष समस्त गुण इस समय गौण है। जैसे

एक व्यक्ति कवि है, लेखक है, वक्ता है, चित्रकार है और भी न जाने क्या क्या है? कविता-गोष्ठी में उसका कवि रूप सामने आता है पर उस समय उसकी दूसरी-दूसरी विशेषताएं समाप्त नहीं हो जाती। इस समय कथन कर्ता की दृष्टि में कवि की प्रधानता है और शेष गुण उसकी दृष्टि में उस समय गौण है।

अतः सत् यानी वस्तु या द्रव्य की सिद्धि अर्पित (मुख्यत्व) और अनर्पित (गौणत्व) के द्वारा ही संभव है।

पौद्‌गलिक बन्ध के हेतु अपवाद आदि

स्निग्ध-रूक्षत्वाद् बन्धः ।।32।।

सूत्रार्थ : स्निग्धत्व (चिकनेपन) और रूक्षत्व (रूखेपन) से पुद्‌गलों का परस्पर बन्ध होता है।

विवेचन : अनेक पदार्थो में एकत्व का ज्ञान करानेवाले सम्बन्ध विशेष को बन्ध कहते हैं।

पुद्‌गल के अनेक गुण व पर्याय है, लेकिन उससे बंध नहीं होता। किन्तु स्पर्श के गुण से ही और उसमें (स्पर्श के ८ गुणों में) से स्निग्ध व रूक्ष नाम पर्याय से ही बन्ध होता है।

न जघन्य-गुणानाम् ।।33।।

सूत्रार्थ : जघन्य गुणो वाले पुद्‌गलों का परस्पर बंध नहीं होता है।

विवेचन : जिन पुद्‌गलों में स्निग्धता अथवा रूक्षता का जघन्य अंश होता है, उनमें बन्धन की योग्यता नहीं होती। इसी कारण उनका बंध नहीं होता। यदि एक परमाणु जघन्य गुणवाला हो और दूसरा जघन्य गुणवाला न हो तो उसका बंध हो सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जघन्य का अभिप्राय : जिस पुद्गल में स्निग्धता अथवा रूक्षता का एक अविभागी प्रतिच्छेद रह जाता है, वह पुद्गल जघन्य गुणवाला कहलाता है।

गुण-साम्ये सदृशानाम् ।।34।।

सूत्रार्थ : गुणों की समानता होने पर सदृश पुद्गलों का पारस्परिक बंध नहीं होता है।

विवेचन : समान गुण होने पर सदृश-स्निग्ध से स्निग्ध, रूक्ष से रूक्ष अवयवों का भी बंध नहीं होता। जैसे दोनों ही स्निग्ध हो और दोनों की समान डिग्री हो तो बन्ध नहीं होता। दो, तीन,चार, यावत् अनंत गुण अधिक होने पर भी बन्ध हो जाता है, केवल एक अंश अधिक होने पर बंध नहीं हो सकता।

द्वयधिकाऽऽदि-गुणानां तु ।।35।।

सूत्रार्थ : दो या दो से अधिक अंशों में गुणों की भिन्नता होने पर पुद्गलों का पारस्परिक बंध होता है।

विवेचन : दो तीन आदि गुणों के अधिक होने पर जो बंध का विधान किया है, वह सदृश अवयवों के लिए है, विसदृश अवयवों के लिए नहीं।

परमाणुओं का बंध

किनका नहीं होता है?	**कब होताहै?**	**किनका होता है?**
★ जघन्य गुण (अविभाग प्रतिच्छेद) वाले पुद्गलों का	स्निग्धता व रूक्षता के कारण	1. स्निग्ध का स्निग्ध से
★ साम्य (समान) गुणवालों का	दो या अधिक गुण होने पर ही	2. रूक्ष का रूक्ष से
		3. स्निग्ध का रूक्ष से

बन्धे समाऽधिकौ पारिणामिकौ ।।36।।

सूत्रार्थ : बन्ध के समय, सम और अधिक गुण क्रमशः सम और हीन गुण को अपने रूप में परिणमन करानेवाले होते हैं।

विवेचन : समान गुण वाले पुद्गल जब परस्पर बद्ध होते हैं तो वे परस्पर एक-दूसरे को अपने-अपने रूप में परिणमन कराने वाले होते हैं। जैसे चार स्निग्ध गुण वाले पुद्गल का तीन रूक्ष

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गुण वाले पुद्गल के साथ बन्ध हुआ तो स्निग्ध गुणवाला पुद्गल रूक्ष गुण वाले पुद्गल को अपने रूप में परिणमा लेगा, यानी दोनों के सम्मिलन से जो स्कन्ध बनेगा वह स्निग्ध गुण प्रधान होगा।

इसी प्रकार अधिक रूक्ष गुण वाले पुद्गल जब कम स्निग्ध गुण वाले पुद्गल के साथ बन्धन करेंगे तो उनसे निर्मित स्कन्ध में रूक्ष गुण प्रधान होगा।

द्रव्य का लक्षण :

गुण-पर्यायवद् द्रव्यम् ।।37।।

सूत्रार्थ : द्रव्य गुण और पर्याय वाला होता है।

विवेचन : इस सूत्र में द्रव्य का लक्षण बताया गया है कि जिसमें गुण और पर्याय दोनों होते हैं वह द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य अपने परिणामी स्वभाव के कारण समय-समय में निमित्तानुसार भिन्न-भिन्न रूप में परिणत होता रहता है अर्थात् विविध परिणामों को प्राप्त होता है।

द्रव्य में परिणाम जनक शक्ति विशेष को गुण कहते हैं और गुणजन्य परिणाम पर्याय है। अत: गुण कारण है और पर्याय कार्य। पर्यायों की उत्पत्ति गुणों के परिणमन से होती है। जैसे जीव का ज्ञान गुण संसार अवस्था में कभी मतिज्ञान रूप होता है और कभी श्रुतज्ञान रूप। इसलिए ये मतिज्ञानादि ज्ञान गुण जन्य पर्याय है। द्रव्य का सहभावी धर्म गुण कहलाता है और क्रमभावी धर्म पर्याय कहलाता है अर्थात् जो सदैव द्रव्य के साथ रहता है वह गुण है और जो परिवर्तित होता रहता है, वह पर्याय है। अत: गुण और पर्याय को छोडकर द्रव्य कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है।

द्रव्य का लक्षण

गुण	पर्याय
1. द्रव्य में परिणाम जन्य शक्ति	गुण जन्य परिणाम
2. सहभावी	क्रमभावी
3. जो द्रव्य के सभी हिस्सों में पाया जाता है	जो उत्पन्न और नष्ट होता है
4. ध्रौव्य रूप	उत्पाद-व्यय रूप
5. नित्य	अनित्य

कालश्चेत्येके ।।38।।

सूत्रार्थ : कुछ आचार्य काल को भी द्रव्य रूप मानते हैं।

Jain Education International

For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सो-ऽनन्तसमयः ||39||

सूत्रार्थ : वह (काल) अनन्त समय वाला है।

विवेचन : काल द्रव्य है या नहीं, इस विषय में मत भेद है।

इसी कारण सूत्रकार ने ''कालश्चेत्येके'' यह सूत्र दिया है कि कोई कोई आचार्य काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं। सूत्रकार इस विवाद में नहीं पड़े कि काल स्वतन्त्र द्रव्य है या नहीं? उन्होंने केवल उल्लेख मात्र करके विषय को छोड़ दिया।

यहाँ सूत्रकार कहते है कि काल अनन्त पर्यायवाला है। काल के वर्तना आदि पर्यायों का कथन तो पहले हो चुका है। समय रूप पर्याय भी काल के ही है। वर्तमान कालिन तो एक समय मात्र है परन्तु भूत और भविष्य की अपेक्षा से काल के अनंत समय है। इसलिए काल को अनंत समय वाला कहा गया है।

गुण का स्वरूप

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ||40||

सूत्रार्थ : जो द्रव्य में सदा रहें और स्वयं गुणों से रहित हों, वे गुण कहलाते हैं।

विवेचन : द्रव्याश्रया : जो द्रव्य के रहित हो

गुणा : वे गुण है।

गुण द्रव्य आश्रित रहते हैं किन्तु वे (गुण) स्वयं निर्गुण होते हैं यानि गुणों के आश्रित गुण नहीं रहते। जैसे चेतना आत्मा का गुण है लेकिन चेतना का अन्य गुण नहीं है।

परिणाम का स्वरूप

तद्भावः परिणामः ||41||

सूत्रार्थ : उसका भाव (परिणमन) परिणाम है अर्थात् स्वरूप में रहते हुए उत्पन्न तथा नष्ट होना परिणाम है।

विवेचन : द्रव्य के भाव को परिणाम कहा जाता है। परिणाम का अर्थ है कि अपने स्वरूप का त्याग न करते हुए एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त होना।

इसे साधारण शब्दों में पर्याय कहा जा सकता है। जैसे द्रव्य में उत्तर पर्याय का उत्पाद और पूर्व पर्याय का विनाश होता रहता है किन्तु द्रव्य फिर भी अपने स्वरूप में रहता है, उसके स्वरूप का विनाश न होता है और न ही उसमें परिवर्तन होता है, उसका स्थिरत्व ज्यों का त्यों त्रिकाल व्यापी रहता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिणाम के भेद तथा विभाग

अनादि-रादिमांश्च ||42||

सूत्रार्थ : परिणाम के दो प्रकार होते हैं - अनादि और आदिमान।

रूपिष्वादिमान् ||43||

सूत्रार्थ : रूपी द्रव्यों में आदिमान् परिणाम होता है।

योगोपयोगौ जीवेषु ||44|

सूत्रार्थ : जीव में योग और उपयोग - ये दो परिणाम आदिमान् होते हैं।

विवेचन : वह परिणाम आदिमान और अनादिमान- ये दो प्रकार का है। अनादि का अभिप्राय है - सहज, स्वाभाविक रूप से सदा से होने वाले परिणाम। ऐसा परिणाम धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय में होता हैं।

जीव और पुद्‌गल में अनादि और आदिमान दोनों प्रकार के परिणाम होते हैं।

अस्तित्व, वस्तुत्व आदि रूप परिणाम तो इन दोनों द्रव्यों में अनादि है। किन्तु पुद्‌गल में स्पर्श, रस, वर्ण, गन्ध के उत्तर भेदों की अपेक्षा आदिमान परिणाम है और योग तथा उपयोग की अपेक्षा जीव में भी आदिमान परिणाम हैं क्योंकि ये सहज स्वाभाविक नहीं है इसका परिणमन अनुभव में आता है।

परिणाम (पर्याय)
(स्वरूप में स्थित रहते हुए उत्पन्न तथा नष्ट होना)

अनादि
(प्रवाह अपेक्षा
सहज स्वभाविक)
धर्मा, अधर्म और आकाश
अस्तिव वस्तुत्व आदि

आदिमान (सादि)
(प्रति समय नया नया)
पुद्‌गल में-वर्ण, रस, गंध, स्पर्श
जीव में-योग और उपयोग

|| पंचम अध्याय समाप्त ||

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

॥ मूलसूत्र ॥

प्रथमोऽध्यायः

1. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्राणि मोक्षमार्गः।
2. तत्त्वार्थ-श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।
3. तन्निसर्गादधिगमाद्वा।
4. जीवाजीवाऽऽस्रव-बंध-संवर-निर्जरा मोक्षास्तत्त्वम्।
5. नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्तन्नयासः।
6. प्रमाण-नयै-रधिगमः।
7. निर्देश-स्वामित्व-साधना-ऽधनिकरण स्थिति-विधानतः।
8. सत्-संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर भावाऽल्पबहुत्वैश्च।
9. मतिश्रु ताऽवधिमनःपर्याय-केवलानि ज्ञानम्।
10. तत्प्रमाणे।
11. आद्ये परोक्षम्।
12. प्रत्यक्षमन्यत्।
13. मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।
14. तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ।
15. अवग्रहेहाऽवायधारणाः।
16. बहु-बहुविध-क्षिप्राऽनिश्रिताऽसन्दिग्ध ध्रुवाणां सेतराणाम्।
17. अर्थस्य।
17. व्यंजनस्यावग्रहः।
19. न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्।
20. श्रुतं मतिपूर्व, द्वयनेकद्वादशभेदम्।
21. द्विविधोऽवधिः।
22. तत्र भव प्रत्ययो नारक देवानाम्।
23. यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्।
24. ऋजुविपुलमती मनःपर्यायः।
25. विशुद्धयप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः।
26. विशुद्धि-क्षेत्र-स्वामि-विषयेभ्योऽवधि मनः पर्याययोः।
27. मति श्रुतयोर्निबंधः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।
28. रूपिष्ववधेः।
29. तदनन्तभागे मनः पर्यायस्य।
30. सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।
31. एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः।
32. मतिश्रु ताऽवधयो विपर्ययश्च।
33. सदसतोरविशेषाद्य-दृच्छोपलब्धेरुन्मत्त वत्।
34. नैगमसंग्रह-व्यवहार-र्जुसूत्र-शब्दा नयाः।
35. आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ।

द्वितीयोऽध्यायः

1. औपशमिक-क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्व-मौदयिक-पारिणामिकौ च।
2. द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम्।
3. सम्यकत्वचारित्रे।
4. ज्ञान-दर्शन-दान-लाभ-भोगोपभोग वीर्याणि च।
5. ज्ञानाज्ञान-दर्शन-दाना-दिलब्धयश्चतुस्त्रित्रि पंचभेदा यथाक्रमं सम्यकत्वचारित्र संयमा संयमाश्च।
6. गति-कषाय-लिंग-मिथ्या-दर्शनाऽज्ञानाऽ संङयताऽसिद्धत्वलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकै कैकैकषड्भेदाः ।
7. जीवभव्याभव्यत्वादीनि च।
8. उपयोगो लक्षणम्।
9. स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः।
10. संसारिणो मुक्ताश्च।
11. समनस्कामनस्काः।
12. संसारिणत्रसस्थावराः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

13. पृथिव्यम्बुवनस्तपयः स्थावराः।
14. तेजोवायूद्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः।
15. पंचेन्द्रियाणि।
16. द्विविधानि।
17. निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्।
18. लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्।
17. उपयोगः स्पर्शादिषु।
20. स्पर्शनरसनघ्राण-चक्षुः श्रोत्राणि।
21. स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दास्ते-षामर्थाः।
22. श्रुतमनिन्द्रियस्य।
23. वाय्वन्तानामेकम्।
24. कृमि-पिपीलिकाभ्रमर-मनुष्यादी नामेकैक
वृद्धानि।
25. संज्ञिनः समनस्काः।
26. विग्रहगतौ कर्मयोगः।
27. अनुश्रेणिगतिः
28. अविग्रहा जीवस्य।
29. विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः।
30. एक-समयोऽविग्रहः।
31. एकं द्वौ वाऽनाहारकः।
32. सम्मूर्च्छनगर्भोपपाता जन्म।
33. सचित्त-शीत-संवृत्ताः सेतरा
मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः।
34. जरा-य्वण्डपोतजानां गर्भः।
35. नारकदेवानामुपपातः।
36. शेषाणां सम्मूर्च्छनम्।
37. औदारिकवैक्रिया-ऽऽहारकतैज
सकार्मणानि शरीराणि।
38. परं परं सूक्ष्मम्।
39. प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात्।
40. अनन्तगुणे परे।
41. अप्रतिघाते।
42. अनादिसम्बन्धे च।
43. सर्वस्य।
44. तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याचतुर्भ्यः।
45. निरुपभोगमन्त्यम्।
46. गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम्।
47. वैक्रियमौपपातिकम्।
48. लब्धिप्रत्ययं च।
49. शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं
चतुर्दशपूर्वधरस्यैव।
50. नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि।
51. न देवाः।
52. औपपातिक-चरमदेहोत्तमपुरुषाऽ
संख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्या-युषः।

तृतीयोऽध्यायः

1. रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमः प्रभा
भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः
पृथुतराः
2. तासु नरकाः।
3. नित्याशुभतरलेश्या-परिणाम-देहवेदना
विक्रियाः।
4. परस्परोदीरितिर दुःखा।
5. संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक्चतुर्थ्याः।
6. तेष्वेक-त्रि-सप्त-दशसप्तदश-द्वाविंशति
त्रयस्त्रिंशत्-सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः।
7. जम्बूद्वीपलवणादयः शुभनामानोद्वीप समुद्राः।
8. द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो
वलयाकृतयः।
9. तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजन-शत
सहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः।
10. तत्र भरतहैमवत हरिविदेहरम्यक् हैरण्यव
तैरावत वर्षाः क्षेत्राणि।
11. तद्विभाजिनः पूर्वपरायता हिम-वन्महा
हिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्ष
धरपर्वताः।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

12. द्विर्धातकीखण्डे।
13. पुष्करार्धे च।
14. प्राग्मानुषोत्तरान्मनुष्याः।
15. आर्याम्लेच्छाश्च
16. भरतैरावत-विदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः।
17. नृस्थिती परापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते।
18. तिर्यग्योनीनां च।

चतुर्थोऽध्यायः

1. देवाश्चतुर्निकायाः।
2. तृतीयः पीतलेश्यः।
3. दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोप पन्नपर्यन्ताः।
4. इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंश-पारिषद्या-त्मरक्ष - लोकपालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्य किल्बिषि काश्चैकशः।
5. त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तर ज्योतिषकाः।
6. पूर्वयोर्द्वीन्द्राः।
7. पीतान्तलेश्याः।
8. कायप्रवीचारा आ ऐशानात्।
9. शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनः प्रवीचाराद्वयोर्द्वयो।
10. परेऽप्रवीचाराः।
11. भवनवासिनोऽसुर-नागविद्युत्सुपर्णाग्नि वात-स्तनितोदधि-द्वीपदिक्कुमाराः।
12. व्यन्तरा किन्नरकिम्पुरुषम होरगगन्धर्वय क्षराक्षसभूतपिशाचाः।
13. ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहनक्षत्र प्रकीर्णतारकाश्च।
14. मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके।
15. तत्कृतः कालविभागः।
16. बहिरवस्थिताः।
17. वैमानिकाः।
18. कल्पोपपन्नाः कल्पापीताश्च।
19. उपर्युपरि।
20. सौधर्मैशान-सानत्कुमार-माहेन्द्र ब्रह्मलोक -लान्तक-महाशुक्र-सहस्रारे-ष्वानत प्राणतयोरार-णाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय वैजयन्त-जयन्ताऽपराजितेषु सवार्थ सिद्धे च।
21. स्थिति प्रभाव-सुख-द्युति-लेश्या विशुद्धीन्द्रियावधि-विषयतोऽधिकाः।
22. गति शरीर-परिग्रहाभिमानतो हीनाः।
23. पीत-पद्म-शुक्ललेश्या द्वि-त्रि-शेषेषु।
24. प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः।
25. ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः।
26. सारस्वतादित्यवह्न्यरुण-गर्दतोय-तुषिता व्याबाध-मरुतोऽरिष्टाश्च।
27. विजयादिषु द्विचरमाः।
28. औपपातिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः।
29. स्थितिः।
30. भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपममध्यर्धम्।
31. शेषाणां पादोने।
32. असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च।
33. सौधर्मादिषु यथाक्रमम्।
34. सागरोपमे।
35. अधिके च।
36. सप्त सानन्तकुमारे।
37. विशेषत्रि-सप्त-दशैकादश-त्रयोदश पंचदश-भिरधिकानि च।
38. आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च।
39. अपरा पल्योपममधिकं च।
40. सागरोपमे।
41. अधिके च।
42. परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

43. नारकाणां च द्वितीयादिषु।
44. दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम्।
45. भवनेषु च।
46. व्यन्तराणां च।
47. परा पल्योपमम्।
48. ज्योतिष्काणामधिकम्।
49. ग्रहाणामेकम्।
50. नक्षत्राणामर्धम् ।
51. तारकाणां चतुर्भागः ।
52. जघन्या त्वष्टभागः।
53. चतुर्भागः शेषाणाम्।

पंचमोऽध्यायः

1. अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः।
2. द्रव्याणि जीवश्च।
3. नित्यावस्थितान्यरूपाणि।
4. रूपिणःपुद्गलाः।
5. आऽऽकाशादेकद्रव्याणि।
6. निष्क्रियाणि च।
7. असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः।
8. जीवस्य ।
9. आकाशस्यानन्ताः।
10. संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम्।
11. नाणोः।
12. लोकाकाशेऽवगाहः।
13. धर्माधर्मयोः कृत्स्ने।
14. एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम्।
15. असंख्यभागादिषु जीवानाम्।
16. प्रदेशसंहार-विसर्गाभ्यां प्रदीपवत्।
17. गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः।
18. आकाशस्यावगाहः।
19. शरीरवाङ् मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम्ः।
20. सुखदुःखजीवितमरणोपगहाश्च।
21. परस्परोपग्रहो जीवानाम्।
22. वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य।
23. स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।
24. शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद तम-श्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च।
25. अणवः स्कन्धाश्च।
26. संघातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते।
27. भेदादणुः।
28. भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषाः।
29. उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्।
30. तद्भावाव्ययं नित्यम्।
31. अर्पितानर्पितसिद्धेः।
32. स्निग्धरुक्षत्वाद्-बंधः।
33. न जघन्यगुणानाम्।
34. गुणासाम्ये सद्दशानाम्।
35. द्वयधिकादिगुणानां तु।
36. बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ।
37. गुणपर्यायवद् द्रव्यम्।
38. कालश्चेत्येके।
39. सोऽनन्तसमयः।
40. द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः।
41. तद्भावः परिणामः।
42. अनादिरादिरमांश्च।
43. रूपिष्वादिमान्।
44. योगोपयोगौ जीवेषु।

•••

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

* परीक्षा के नियम *

परीक्षा में भाग लेनेवाले विद्यार्थियों को फॉर्म भरना आवश्यक हैं।
कम से कम 20 परीक्षार्थी होने पर परीक्षा केन्द्र खोला जा सकेगा।

* पाठ्यक्रम	:	भाग 1 और 2
* योग्यता	:	ज्ञानार्जन का अभिलाषी
* परीक्षा का समय	:	जनवरी, जुलाई
* श्रेणी निर्धारण		
विशेष योग्यता	:	75% से 100%
प्रथम श्रेणी	:	60% से 74%
द्वितीय श्रेणी	:	46% से 59%
तृतीय श्रेणी	:	35% से 45%
* परीक्षा फल (Results)	:	परीक्षा केन्द्र पर उपलब्ध रहेगा/
* प्रमाण पत्र	:	संबंधित परीक्षा केन्द्रों पर प्रमाण पत्र भिजवाए जाएंगे।

Diploma Degree in Jain Tatvagyan

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मॉडल परिक्षा पत्र

निम्नलिखित में से सही शब्द को चुनें :- 10 × 1 = 10

1. तत्त्वार्थ सूत्र में तत्त्व कितने बताए गये हैं ?

अ) 9 आ) 12 इ) 7

2. उपयोग कितने प्रकार के होते हैं ?

अ) 4 आ) 12 इ) 2

3. तीसरी नारकी का नाम बताए।

अ) बालुकाप्रभा आ) पंकप्रभा इ) धूमप्रभा

4. रूपी द्रव्य कौन सा है ?

अ) अधर्मास्तिकाय आ) पुदगलास्तिकाय इ) जीव

5. पहले देवलोक में देवों की आयुष्य कितनी होती है ?

अ) 7 सागरोपम आ) 2 सागरोपम इ) 1 सागरोपम

6. कौनसे जीव एकान्त नपुंसक होते हैं ?

अ) मनुष्य आ) तिर्यंच इ) नारक

7. अविग्रह गति कितने समय की होती है ?

अ) 2 समय आ) 1 समय इ) 3 समय

8. उपपात जन्म कौने से शरीर से होता है ?

अ) तैजस आ) आहारक इ) वैक्रिय

9. मनुष्य कहाँ तक मिलते हैं ?

अ) जम्बुद्वीप तक आ) मानुषोत्तर पर्वत के पहले तक इ) घातकी खण्ड तक

10. जिसमें गुण और पर्याय होते हैं उसे क्या कहते है?

अ) धर्म आ) अधर्म इ) द्रव्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जोड़ी मिलाइए :- 10 × 1 = 10

1. अवधिज्ञान	1. औदारिक
2. संज्ञा	2. उपपात
3. सन्मूर्च्छिम	3. हरिवर्ष
4. नारकी	4. धर्मास्तिकाय
5. चारित्र मोहनीय	5. 14
6. जम्बूद्वीप	6. गंध
7. कल्पातीत विमान	7. प्रत्यक्ष
8. पुद्गल	8. नपुंसक वेद
9. असंख्यात प्रदेश	9. पुद्गल
10. जीवन मरण	10. अभिनिबोध

निम्नोक्त पर सही (✓) या गलत (✗) निशान लगाए :- 10 × 1 = 10

1. सातवीं नारकी तम:प्रभा है।
2. वैक्रिय शरीर चार गतियों में पाया जाता है।
3. देवताओं को नपुंसक वेद होता है।
4. अधिगम पर के निमित्त से होता है।
5. व्यन्जनावग्रह मन और 5 इन्द्रियों की सहायता से होता है।
6. औदयिक भाव के 25 भेद हैं।
7. अंगोपांग नामकर्म के निमित्त से शरीर पुद्गलों की रचना निवृत्ति है।
8. सभी विकलेन्द्रिय समुर्च्छिम होते हैं।
9. सभी संसारी जीवों को औदारिक शरीर होता है।
10. संक्लिष्ट असुर पाँचवीं नारकी तक पीड़ित करते है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें :- 10 × 1 = 10

1. .... एवं .... ज्ञान परोक्ष ज्ञान है।

2. .... के 340 भेद होते हैं।

3. औपशमिक सम्यक्त्व में .... का उपशम रहता है।

4. जन्म .... प्रकार के होते हैं।

5. योनि के .... भेद होते हैं।

6. .... तीनों प्रकार की योनि में उत्पन्न होते हैं।

7. कार्मण शरीर .... होता है।

8. घातकी खण्ड में .... मेरू हैं।

9. पृथ्वीकाय की उत्कृष्ट भवस्थिति .... वर्ष होती है।

10. देवलोक में .... का दुःख होता है।

संक्षिप्त उत्तर लिखें :- 10 × 1 = 10

1. देवों की उत्कृष्ट आयु कितनी ?

2. अढाई द्वीप में कितने सूर्य और चन्द्र हैं ?

3. मनुष्य और तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु कितनी ?

4. सत् क्या है ?

6. चन्द्र, मणि आदि का शीत प्रकाश क्या कहलाता हैं ?

7. एक जीव दूसरे जीव पर क्या करता है ?

8. लोकान्तिक देवों का निवास स्थान कौनसा है ?

9. त्रायस्त्रिंस और लोकपाल जाति के देव कहां नहीं होते हैं ?

10. नारकी में कौन-कौन सी लेश्या पायी जाती है ?

Jain Education International

For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

सूत्र को पूरा करें :- (किन्हीं पाँच) 5 × 2 = 10

1. श्रुतं.................................भेदम्।
2. जीवा...............................तत्त्वम्।
3. गति.................................भेदाः।
4. शेषाः...............................द्वयोर्द्वयो।
5. सौधर्म.............................सर्वार्थसिद्धे च।
6. गति.................................रूपकारः।
7. औपपातिक........................वर्त्यायुषः।

संक्षिप्त उत्तर देवें :- 2× 10 = 20

1. अनपवर्तनीय आयुष्य वाले कौन होते हैं ?
2. स्कन्ध द्रव्य की उत्पत्ति कितने प्रकार की होती है, वह कौन सी है?
3. बंध कैसे होता है ?
4. भवनपति देव कहां रहते हैं ?
5. 18 क्षयोपशमिक भावों के नाम लिखें।
6. द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय क्या हैं ?
7. बेइन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक 1-1 इन्द्रियां बढती है -इसका सूत्र लिखें?
8. 12 देवलोक के नाम लिखे?
9. चाक्षुष और अचाक्षुष किसे कहते हैं?
10. ''अर्पिता नर्पित सिद्धेः'' - का अर्थ लिखे।

किन्हीं चार प्रश्नों के उत्तर लिखे :- 5 × 4 = 20

1. निर्सग और अधिगम सम्यक्त्व का वर्णन करें।
2. मोक्षमार्ग क्या है यह किससे प्राप्त होता है विस्तार से लिखें।
3. ''सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन कालान्तर भावाल्पबहुत्व''- इस सूत्र को समझाइए।
4. सात नारकी के स्थिति या आयुष्य पर प्रकाश डालें।
5. ढाई द्वीप के आकार तथा विस्तार का विवचेन सचित्र करें।
6. जरायुज, पोतज तथा अण्डज जन्म किसे कहते हैं सोदाहरण लिखें?
7. रूपी अजीवकाय के कितने भेद हैं ? उन पर संक्षिप्त प्रकाश डालें।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हे वीतराग !

मेरे स्वरूप को समझे बिना
अनंतकाल भटका ।
मेरी ही गलत जानकारी,
मेरे स्वरूप के विषय में ही
भ्रान्ति रखकर बहुत
अस्तव्यस्त हो गया हूँ ।

अब तो मैं

मुझे ही पहचान लूँ ।

मेरी जानकारी में
तेरी जानकारी
आ ही जाएगी ।
क्योंकि मैं और तू एक ही है ।
बस मेरा स्वरूप मुझे बता दो ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org